बौद्ध आकर ग्रन्थमाला पुष्प-६

बौद्ध धर्म के इतिहास का प्रामाणिक ग्रन्थ

दीपवंस

(मूल पालि एवं हिन्दी रूपान्तर)

पुरोवाक्

प्रो. रामकुमार त्रिपाठी

कुलपति

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी

अनुवादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

सम्पादक

डॉ. परमानन्द सिंह

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी

१९९६

पुरोवाक्

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

विवेकी पुरुष को स्वकीय लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान में, इतिहास एवं पुराण ग्रन्थों के स्वाध्याय से, सतत् वृद्धि, विपुलता एवं विस्तार करते रहना चाहिये । ऐसी विद्वानों की मान्यता है ।

पालिवाङ्मय में वंश-साहित्य के ग्रन्थ ही इतिहास-ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध है ।

त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं में भगवान् बुद्ध के विषय में तो यथाप्रसङ्ग सामग्री मिलती है, परन्तु आज की भाषा में जिसे 'इतिहास' कहा जाता है, वह तो वंश-साहित्य की ही परिधि में आता है ।

इस वंश-साहित्य में दीपवंस, महावंस, चूळवंस, बुद्धघोसुप्पत्ति, सद्धम्मसंगह, महाबोधिवंस, थूपवंस, दाठावंस, गन्धवंस एवं शासनवंस आदि बहुत से ग्रन्थों की गणना होती है, परन्तु पालि वाङ्मय से सम्बद्ध इतिहास का जितना प्रामाणिक विस्तार **दीपवंस** एवं **महावंस** में मिलता है उतना अन्य ग्रन्थों में नहीं ।

स्वातन्त्र्योत्तर पचास वर्षों में भारतीय विद्वानों ने भी त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं के प्रचार-प्रसार में कुछ सन्तोषप्रद कार्य किया है । आज भारत में समग्र त्रिपिटक उसके हिन्दी अनुवाद, साथ ही अनुपिटक साहित्य भी देवनागरी लिपि में पुनः उपलब्ध है । पालि-साहित्य पर अच्छे अनुसन्धान भी हुए हैं और हो रहे हैं जिन पर विद्वान् गर्व कर सकते हैं । परन्तु आज भी यह खेद का ही विषय है कि विद्वानों का ध्यान अभी तक त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं तक ही केन्द्रित रहा और उन्होंने पालिवाङ्मय में इतिहास पक्ष की उपेक्षा ही की । इसीलिये इस पक्ष पर अभी तक अपेक्षाकृत अल्प ही कार्य हो पाया है ।

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के इतिहासविदों का ध्यान जब इस ओर गया तो उन्होंने बौद्ध आकर ग्रन्थमाला के अन्तर्गत पालिवाङ्मय का समग्र वंश-साहित्य, हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का सङ्कल्प किया ।

इसी सङ्कल्प के अनुसार, उक्त वंश-साहित्य के दो मूर्धन्य ग्रन्थ **दीपवंस** एवं **महावंस** हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किये जा रहे हैं । इन दोनों ही ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म, उनके द्वारा सञ्चालित सङ्घ एवं बौद्धमतानुयायी राजाओं और उनके अधिकारियों के शुभ कृत्यों का जितना विस्तृत क्रमिक एवं साङ्गोपाङ्ग विवरण है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं है ।

इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने पर इतिहासविदों को बुद्धपूर्व, बुद्धकाल एवं बुद्धपश्चात्काल की प्रचुर इतिहास सामग्री प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हो सकेगी–ऐसा विश्वास है ।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास के मानक ग्रन्थों में दीपवंस का महत्व सर्वमान्य है, फिर भी हिन्दीभाषी जिज्ञासुओं के लिये इसका हिन्दी रूपान्तर आज तक अनुपलब्ध रहा, यह आश्चर्य की बात है । ऐसे कार्यों का गुरुतर दायित्व निर्वहन करनेवाली संस्थाओं ने भी इधर उदासीनता ही दिखलायी है ।

हमें प्रसन्नता है कि इस अभाव की पूर्ति इस सम्पादन से हो रही है, जिसके लिए बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ एवं इस ग्रन्थ के अनुवादक **स्वामी द्वारिकादासशास्त्री** एवं प्राचीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ एवं इसके सम्पादक **डॉ. परमानन्द सिंह** निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह प्रयास लोकोपयोगी एवं सार्थक सिद्ध होगा और यह ग्रन्थ सहृदय पाठकों में लोकप्रिय होगा ।

रामकुमार त्रिपाठी

(प्रो. रामकुमार त्रिपाठी)
कुलपति एवं अध्यक्ष
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला

६ सितम्बर, १९९६
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी-२.

* नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स *

सम्पादकीय वक्तव्य

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ द्वारा सञ्चालित "बौद्ध आकर ग्रन्थमाला" के षष्ठ पुष्प के रूप में इस **दीपवंस** ग्रन्थ का (मूल पाठ एवं उसके हिन्दी अनुवाद सहित) यह अनुपम संस्करण प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है । प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीलङ्का के प्राचीन इतिहास के साथ-साथ भारत के समकालिक इतिहास की भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध कराता है । यों तो त्रिपिटक भी प्राचीन इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ स्वयं अपने में समाविष्ट किये हुए है, परन्तु बौद्ध धर्म के क्रमिक इतिहास-लेखन की परम्परा दीपवंस से ही प्रारम्भ होती है । दीपवंस के अनुसार, प्रारम्भिक काल में (जब समाज में राजतन्त्रप्रणाली आरम्भ हुई) जनता द्वारा निर्वाचित, परन्तु सर्वाधिकार-सम्पन्न, प्रथम राजा का नाम **'महासम्मत'** (सर्वसम्मति से निर्वाचित) रखा गया । इस से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध एवं उनके अनुयायी सार्वभौम इतिहास के किसी ऐसे स्वरूप से अवश्य परिचित थे[1] जो कालान्तर में दीपवंस-समकालीन युग या कल्प के वंशों की एक लम्बी शृङ्खला प्रस्तुत करता है । इन का अभिप्राय ऐतिहासक विकास के उस चक्र से है जो महासम्मत राजा से प्रारम्भ होता है । इतिहास का यह स्वरूप पौराणिक पाठान्तर की अपेक्षा इतिहासविदों द्वारा अधिक स्वीकृत एवं समर्थित है ।

बौद्ध साहित्य में अवदान, जातक एवं वंश-साहित्य का अधिक महत्व है । अवदान साहित्य में बुद्ध तथा उनके पूर्ववर्ती बुद्धों की या उनके अनुयायियों की कथाएँ हैं; उधर, बुद्ध की साक्षात् कथा 'जातक' में वर्णित है उनके पूर्वजन्म का वर्णन ही इनका विषय है; और वंशसाहित्य में एक प्रकार की आनुपूर्वी एवं परम्परागत सम्प्रदाय या कुल की कथाएँ यथानुरूप वर्णित हैं ।

तिथिक्रम : बौद्ध सङ्घ की स्थापना तथा उस के बाद की घटनाओं को तिथिक्रम से उल्लिखित करने के उपक्रम में विनयपिटक ने प्रारम्भिक योगदान किया । कालान्तर में बौद्धसङ्घ में मतभेद हो गया तो भी पृथक्-पृथक् शाखाओं ने अपने अपने ऐतिहासिक अभिलेख पृथक् रूप से लिखना प्रचलित रखा । स्थविरवाद का मुख्य केन्द्र, आगे चल कर, श्रीलङ्का में पहुँच गया । इस शाखा ने त्रिपिटक की अट्ठकथा (व्याख्या) की जिसे अपनी परम्परा में (भाष्य) कहा जाता

---

1. द्र.– दीघनिकाय, अग्गञ्ञसुत्त, तृ. भा., पृ. ६५१-६६७ (बौद्धभारती-संस्करण)

है, इसी में 'वंश' नाम के इतिहास-भाग को भी मिला लिया । प्रारम्भ में इस का अर्थ यहाँ 'वंशवृक्ष' नहीं था । त्रिपिटक में एक ग्रन्थ है–बुद्धवंस, जिसमें केवल बुद्धों की एक परम्परा वर्णित है तथा इसी क्रम में सुदीर्घ अन्तराल के बाद भगवान् (गौतम) बुद्ध अवतरित हुए । यह दीपवंस ग्रन्थ भी (द्वीप का इतिहास=श्रीलङ्का एवं भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास) इसी प्राचीन स्थविरवादियों के भाष्य की एक परम्परागत अभिव्यक्ति है ।

दीपवंस की रचना : इस प्रकार के धार्मिक इतिहास-ग्रन्थों में दीपवंस सब से प्राचीन सङ्कलित ग्रन्थ है, जिसमें कि उन भिन्न भिन्न स्रोतों से वह पारम्परिक इतिहास संगृहीत किया है, जो इससे पूर्व सब का सब आख्यान-परम्परा के अन्तर्गत ही समाविष्ट था । यह इतिहास-वर्णन ग्रन्थ को चतुर्थ शताब्दी के मध्य तक ले जाता है, जिसके अन्त में इस को लिखित रूप दिया गया ।

रचनाकार : दीपवंस के रचनाकार का नाम अभी तक इतिहासविदों द्वारा प्रमाणित नहीं हो सका है । वे इसे अज्ञात लेखक की रचना मानते हैं । सामान्यतः यह श्रीलङ्का के उस काल की रचना है जब कोई भी रचना किसी व्यक्तिविशेष के नाम से नहीं की जाती थी, अपितु किसी मत या सम्प्रदाय के नाम से की जाती थी । यह तो स्पष्ट ही है कि 'दीपवंस' इस मत या सम्प्रदाय (स्थविरवाद) का इतिहास रूप में वर्णन करने वाली प्राचीनतम रचना है ।

दीपवंस का अनुशीलन : दीपवंस पालि भाषा में लिखित बौद्धकालीन इतिहास-विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसके रचनाकार ने इसके प्रारम्भ में ही ग्रन्थरचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है–"मैं परम्परा से प्राप्त (बौद्ध धर्म के) इतिहास का वर्णन करूँगा ।" इस दीपवंस ग्रन्थ का 22 परिच्छेदों में विस्तार है । प्रारम्भ के राजा (विजय) से लेकर महाराज महासेन तक के शासनकाल तक का श्रीलङ्का का इतिहास संक्षेप या विस्तार से वर्णित है ।

आचार्य **बुद्धघोष** इस ग्रन्थ से परिचित थे । अत एव उन्होंने अपनी अट्ठकथाओं में, विशेषतः **कथावत्थुप्पकरण** की अट्ठकथा में यथाप्रसङ्ग प्रमाणरूप से दीपवंस को उद्धृत किया है । इसी तरह उन्होंने **विनयपिटक** की अट्ठकथा–**समन्तपासादिका** में यथाप्रसङ्ग दीपवंस को स्थान-स्थान पर प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है ।

दीपवंस में रचनाकार ने विविध प्रकार के ऐतिहासिक इतिवृत्तों, कथाओं आदि को एक सुन्दर माला के रूप में गूँथने का अतीव स्तुत्य प्रयास किया है जो अपने आप में अत्यधिक महत्त्वशाली बन गया है । यह कार्य रचनाकार का एक

सराहना करने योग्य प्रयास है । इसे यदि 'वंशसाहित्य की गंगोत्री' कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । इस में साहित्यक कला, भाषा और छन्द आदि की गौण दृष्टियों से कुछ दोषों का आ जाना स्वाभाविक प्रक्रिया ही मानी जानी चाहिये ।

परन्तु साहित्यिक दृष्टि से कुछ दोषमय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से दीपवंस एक अनुपम ग्रन्थ है । साहित्य के अपूर्णताओं के अस्तित्वमात्र से उसके ऐतिहासिक महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता । डॉ. गायगर इस बात से पूर्ण सहमत हैं । उन्होंने दीपवंस की रचना को सिंहली भाषा में लिखित धार्मिक पद्यों की पृष्ठभूमि में माना है । उन्होंने अपना यह मत व्यक्त किया है कि दीपवंस महाकाव्य के रूप में ही एक प्रारम्भिक ग्रन्थ है । महावंस आदि अर्वाचीन ग्रन्थों को इसी ग्रन्थ का विकसित रूप माना है ।

दीपवंस के साक्ष्य : दीपवंस में वर्णित राजतन्त्रप्रणाली में प्रथम (आदि) राजा का नाम 'महासम्मत' बताया गया है । इसी क्रम में विजय श्रीलङ्का का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ । उसके बाद अनेक राजा हुए । भारत में देवानाम्प्रिय सम्राट् अशोक प्रियदर्शी जब राज्य कर रहे थे, उसी समय श्रीलङ्का में विजय-राजवंश का देवानाम्प्रिय तिष्य नामक राजा था । इस प्रकरण के सूक्ष्म अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है राज्य का विकास किस प्रकार हुआ । राज्य का यह विकासक्रम अत्यधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है ।

साथ ही, भारतीय और श्रीलङ्का के इतिहास की अनेक समकालीन घटनाएँ एवं विशेषत: बिम्बिसार के समय से सम्राट् अशोक के समय तक के कालक्रमिक वृत्त दीपवंस में अपनी पद्धति से वर्णित हैं ।

दीपवंस द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक विचारणीय हैं । यह ग्रन्थ भारत और श्रीलङ्का के शताब्दियों तक पारस्परिक आदान-प्रदान का आकर्षक चित्रण प्रस्तुत करता है ।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक तथा व्यापारिक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं । वे इतिहास की अमूल्य धरोहर हैं ।

यह ग्रन्थ लङ्का एवं भारत के बहुत दूर तक दीर्घ काल के तिमिराच्छन्न इतिहास को आलोकित करता हुआ दोनों के पारस्परिक सौहार्दमय सम्बन्धों को परिपुष्ट करता है ।

संक्षेप में हम यह स्पष्टत: कह सकते हैं कि दीपवंस साहित्यिक दृष्टि से काव्यत्व के मानकों पर भले ही खरा न उतरता हो, परन्तु इतिहास की दृष्टि से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को इतिहासचिन्तन के लिये, अनायास ही बहुत सी अमूल्य सामग्री देते हुए उस पर विचार हेतु, प्रवृत्त करने में समर्थ है ।

दीपवंस के हस्तलेख का सम्पादन : (१) इस ग्रन्थ की मूल रचना पालि भाषा में हुई है। यह प्रधानतः श्रीलङ्का में प्रसारप्राप्त बौद्ध धर्म से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम सन् 1879 ई. में श्री ओल्डनवर्गने रोमन लिपि में सम्पादन तथा आंग्ल भाषा में अनुवाद किया था।

(2) यह ग्रन्थ डॉ. विमलाचरण लाहा द्वारा भी रोमन लिपि में सम्पादित एव इंग्लिश भाषा में अनूदित हो कर "दी सिलोन हिस्टोरिकल जनरल" (भाग-4) में प्रकाशित हुआ था। पुस्तकरूप में इस का प्रथम संस्करण 1879 में उपलब्ध हुआ।

वर्तमान हिन्दी-अनुवाद का सङ्कल्प : महामनीषी डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ने अपने 'पालि साहित्य का इतिहास' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में दीपवंस के विषय में अपना हार्दिक आक्रोश व्यक्त करते हुए एक लघु टिप्पणी यथाप्रसङ्ग लिखी है– "हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का मूल संस्करण या हिन्दी अनुवाद नहीं निकला; जब कि इस ग्रन्थ के वर्मी एवं सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं।" इस छोटी सी टिप्पणी को ही अन्तिमेत्थम् (अल्टीमेटम) मानकर **बौद्ध आकर ग्रन्थमाला** की **प्रशासन समिति** ने दीपवंस के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का दायित्व, अपने उद्देश्यों के अनुरूप मान कर, सहर्ष स्वीकार किया।

बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, (महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी) इस महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ के मूल पाठ का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन कर स्वयं को कृतार्थ मानती है।

धन्यवाद ज्ञापन : बौद्ध आकर ग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ के माध्यम से सम्पन्न हो, इसके लिए सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश सरकार ने विद्यापीठ में बौद्ध आकर ग्रन्थ माला निधि की स्थापना करके अपनी सहृदयता का जो परिचय दिया है, उसके लिए हम सरकार के प्रति अपनी कृतज्ञता निवेदित करते हैं।

इस असम्भव कार्य को सम्भव बनाने का अथक प्रयास साहित्य जगत के मर्मज्ञ प्रो. राम कुमार त्रिपाठी कुलपति महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ ने किया, वे इस निधि के अध्यक्ष भी है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपने कर्तव्य की सार्थकता समझता हूँ। इस प्रसंग में तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान के निदेशक प्रो. एस. रिम्पोछे के प्रति भी आभारी हूँ इसके साथ ही प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, पूर्व विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं डॉ. बाँके लाल मिश्र, संस्कृत विभाग, म. गाँ. काशी विद्यापीठ के प्रति आभार व्यक्त करना भी मैं अपना दायित्व समझता हूँ। इन महानुभावों ने समय-समय पर अपने सुझाव देकर इस कार्य को पूर्ण कराने में योगदान किया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में महाबोधि सोसाइटी के महासचिव भिक्षु डा. डोडम गोड रेवत का प्रोत्साहन एवं विद्वत्तापूर्ण सुझाव ने हमारे लिए मार्ग दर्शन का कार्य किया । उनके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं ।

इस ग्रन्थ के संशोधक एवं हिन्दी अनुवादक हैं श्री स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, जो वर्तमान में बौद्ध विद्या के जाने माने भारतीय विद्वान् हैं । ये अभी तक बौद्ध दर्शन एवं पालि साहित्य के शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन, संशोधन, व्याख्यान तथा अनुवाद सम्पन्न कर चुके हैं । श्रद्धेय स्वामी जी, इस ग्रन्थ का भी ऐसा हृदयग्राही अनुवाद कर, पालिजगत् द्वारा प्रशंसा के पात्र बन गये हैं । हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आगे भी श्रीस्वामी जी अपनी लेखनी से पालि भाषा का अभिवर्धन-संवर्धन करते रहेंगे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को सजाने-संवारने एवं टंकित करने का कार्य मेरे सहयोगी श्रीश कुमार सिन्हा ने किया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए मैं हर्षित हो रहा हूँ । इस कार्य की पूर्णता के लिये म. गाँधी काशी विद्यापीठ परिवार का मैं विशेष ऋणी हूँ । जिसकी सत्प्रेरणा से मैं लाभान्वित हुआ हूँ ।

अन्त में, मैं उन समस्त बौद्ध विद्वानों एवं लेखकों के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग से यह कार्य पूर्ण किया गया ।

मैं अपने मित्र श्री विपुल शंकर पण्ड्या के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयास से यह कार्य पूर्ण हो सका । पुस्तक को सुन्दर, स्पष्ट एवं शुद्ध छापने में उनके रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स के कर्मचारियों का सहयोग सराहनीय रहा, उनके सहयोग से ही यह ग्रन्थ पाठकों के सम्मुख पहुँच पाया है ।

परमानन्द

(डॉ. परमानन्द सिंह)
उपाचार्य इतिहास विभाग
एवं सदस्य-सचिव
बौद्ध आकर ग्रन्थमाला

म. गाँ. काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

पूर्वपीठिका

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

भारतीय शास्त्रकारों ने 'पुराणेतिहास'– ग्रन्थों के ये पाँच लक्षण बताये हैं– १. सर्ग (सृष्टिक्रम वर्णन), २. प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टिक्रम का वर्णन), ३. वंश (राजाओंकी वंशावलियाँ), ४ मन्वन्तर (सृष्टि के दूसरे कल्पों के विषय में सूचना, एवं ५ वंशानुचरित (कुछ विशिष्ट राजाओं की जीवनचर्यायों का विशिष्ट वर्णन) । इन पाँचों में वंश एवं वंशानुचरित हमारे इस प्रस्तत **दीपवंस** ग्रन्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ।

राजाओं की वंशावलियाँ तथा उनकी विस्तृत चर्याएँ बौद्ध साहित्य के समसामयिक संस्कृत के विष्णुपुराण, वायुपुराण, मत्स्यपुराण एवं भागवत आदि पुराणों में भी दी गयी है । पालि भाषा का वंशसाहित्य भी यद्यपि प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है; तथापि उस में रामायण, महाभारत एवं अन्य पुराणों की तरह इस वर्णन के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है । धर्म-वृत्त एवं धार्मिक कथाएँ–दोनों के महत्त्वपूर्ण अंश हैं । इस सामान्य प्रतिज्ञा के साथ हम पालिभाषा एवं वंश-साहित्य के मूर्धन्यभूत इस दीपवंस ग्रन्थ की विशेषताओं का वर्णन करना चाहते हैं ।

पालि के वंस-साहित्य की परम्परा :

पालि भाषा में वंस-साहित्य की परम्परा आचार्य बुद्धघोष के काल से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, जोकि अद्यावधि (बीसवी शताब्दी तक) अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है । पालि साहित्य में वंश-प्रतिपादक ग्रन्थ मुख्यतः ये हैं–

१. दीपवंस, २ महावंस, ३ चूळवंस, ४ बुद्धघोसुप्पत्ति, ५. सद्धम्मसङ्गह, ६. महाबोधिवंस,७ थूपवंस, ८. अत्तनगळुविहारवंस, ९. दाठावंस, १०. छकेसधातुवंस, ११. गन्धवंस, एवं सासनवंस आदि ।

दीपवंस :

दीपवंस पालिभाषागत वंस-साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है । इस में लङ्काद्वीप का इतिहास वर्णित है । या यों कहिये कि लङ्काद्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है । यह ग्रन्थ बुद्धघोषकाल से पूर्व ही निर्मित हो चुका था । इसमें भगवान् के महापरिनिर्वाणकाल

से प्रारम्भ होकर राजा महासेन (ई. ३२५-३५२) तक का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है ।

रचनाकाल :

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में, विशेषतः कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में, दीपवंस को अनेक प्रसङ्गों में प्रमाणरूप में उद्धृत किया है । बुद्धघोष का जीवनकाल विद्वानों ने चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी निर्णीत किया है । अतः यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि दीपवंस का रचनाकाल ३५२ ई. राजा महासेन के अन्तिम शासनवर्ष (जहां तक का वर्णन दीपवंस में मिलता है) से ४५0 ई. के मध्य होना चाहिये ।

दीपवंस की रचना का आधार :

दीपवंस की ऐतिहासिक परम्परा एवं विषयवस्तु प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधृत है । ये अट्ठकथाएँ बहुत पहले सिंहली भाषा में लिखी गयी थीं । ये पद्यमिश्रित गद्य रूप में लिखी गयी थीं । इन्हीं अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की त्रिपिटक-अट्ठकथाएँ भी आधृत हैं । तथा इन्हीं पर दीपवंस भी । 'महाअट्ठकथा', 'महापच्चरी', 'कुरुन्दी', 'चुल्लपच्चरी' एवं 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिंहल-अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने अपनी त्रिपिटक अट्ठकथाओं में सामग्री संगृहीत की थी उन्हीं अट्ठकथाओं पर दीपवंस आदि भी आधृत हैं । 'महावंस-टीका' (सीहलट्ठकथा-महावंस) से भी सम्भवतः दीपवंस में अधिक सामग्री ली गयी है ।

रचना–दोष :

१. इस तरह अनेक स्रोतों से सहायता संगृहीत करने के कारण, उनमें निर्दिष्ट परम्पराओं को मौलिक रूप में ही रखने के सात्त्विक आग्रह के कारण भी दीपवंस में अत्यधिक **पुनरुक्तियाँ** मिलती हैं ।

२. यद्यपि इस में विभिन्न स्रोतों से सामग्री तो संग्रह कर ली गयी, परन्तु उन्हें एकरूपता प्रदान नहीं की गयी । अतः यह **अनेकरूपता** भी इस ग्रन्थ का दोष ही माना जायगा ।

३. यों इस ग्रन्थ में उक्त सङ्कलन का संग्रह कर के भी उसे यहाँ एकरूपता प्रदान न करते हुए, कहीं एक ही घटना का वर्णन **अतिसंक्षिप्त** रूप दे दिया गया ।

४. अन्यत्र उसी घटना को इतना **विस्तृत रूप** दिया गया कि पाठक को अरुचि होने लगे ।

५. अतः यह ग्रन्थ **साहित्यिक** कला की दृष्टि से **अतिमहत्त्वपूर्ण** नहीं

माना जा सकता; क्योंकि यह भाषा और छन्द–दोनों ही दृष्टियों से निर्दुष्ट नहीं बन पाया ।

इसलिये यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस ग्रन्थके रचनाकार का भाषा पर पाण्डित्यपूर्ण अधिकार नहीं दिखायी देता । अतः साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अव्यवस्थित, पुनरुक्तिदोषग्रस्त, भाषागत एवं शैलीगत दोषों से परिपूर्ण, अतएव नीरस गद्य-पद्यमय रचना है । इसी बात की तरफ पाठक का ध्यान दिलाने के लिये महावंसकार **महावंस** के प्रारम्भ में ही कहते हैं–

> **"पोराणेहि कतो पेसो अतिवित्थारतो क्वचि ।**
> **अतीव क्वचि सङ्खित्तो अनेकपुनरुत्तको ॥"**
>
> (म. व. १/२)

यहाँ यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यद्यपि इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक सामग्री उपर्युक्त अट्ठकथाओं से ली गयी है, तथापि यह भाषा एवं शैली की दृष्टि से त्रिपिटक के ग्रन्थों के अधिक समीप है । बुद्धवंस' 'चरियापिटक' 'जातक' 'परिवार' आदि ग्रन्थों की शैली से दीपवंस की भाषा-शैली की पर्याप्त समानता है ।

दीपवंस की ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिकता :

परन्तु कतिपय विद्वानों ने दीपवंस की इस साहित्यक श्लथता और अपूर्णता को देखते हुए इस के ऐतिहासिक दृष्टि से गौरवमय महत्त्व को भी विनष्ट करना चाहा है, यह उनका प्रमाद ही है; क्योंकि पालि साहित्य के महान् मनीषी डब्ल्यू. गायगर की दीर्घकालीन गवेषणाओं ने दीपवंस की ऐतिहासिक परम्परा-दृष्टि की प्रामाणिकता सर्वथा सिद्ध कर दी है ।

दीपवंस में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जिसको लङ्काद्वीप में सदा ही आदर एवं विश्वास की दृष्टि से देखा है । ईसा की पञ्चम शताब्दी में वर्तमान लङ्का के राजा धातुसेन ने राष्ट्रिय सम्मान के साथ, एक वार्षिक उत्सव के शुभ अवसर पर, 'दीपवंस' का सार्वजनिक पुण्यपाठ करवाया था ।

दीपवंस की विषय-वस्तु :

लङ्का के प्रारम्भिक इतिहास से प्रारम्भ कर वहाँ के राजा महासेन (३२५-३५२ई.) तक का इतिहास दीपवंस में वर्णित है ।

सर्वप्रथम, भगवान् बुद्ध के तीन बार लङ्कागमन का वर्णन है । वहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावलि का भी वर्णन मिलता है । बुद्ध की वंशावलि में प्रथम राजा का नाम महासम्मत बताया गया है । फिर प्रथम दो बौद्ध धर्मसङ्गीतियों का वर्णन हुआ

है । इस वर्णन में विनयपिटक (चुल्लवग्ग आदि) के वर्णन से कोई भिन्नता नहीं है । दीपवंस के आधार पर ही हम जान पाते हैं कि सम्राट् अशोक का शासन आते-आते बौद्ध धर्म अट्ठारह (१८) सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था । (चतुर्थ परिच्छेद) ।

प्रथम दो सङ्गीतियों के वर्णन के बाद दीपवंस में तृतीय सङ्गीति का वर्णन प्रारम्भ होता है; किन्तु लेखक यहाँ सम्बन्ध मिलाने के पहले विनयपरम्परा का वर्णन प्रारम्भ करता है । इसमें मोग्गलिपुत्र तिष्य एवं सम्राट् अशोक का राज्याभिषेक एवं तिष्य की प्रव्रज्या वर्णित है । (पञ्चम परिच्छेद) ।

षष्ठ परिच्छेद में सम्राट् अशोक की लोकोत्तर शक्तियों का वर्णन, सम्राट् द्वारा विहारनिर्माण वर्णित है । सप्तम परिच्छेद में महेन्द्र की प्रव्रज्या, सङ्घ में सङ्कट एवं तृतीय धर्मसङ्गीति का विस्तृत वर्णन हे ।

अष्टम परिच्छेद में सम्राट् अशोक की प्रेरणा से मोग्गलिपुत्र तिष्य द्वारा धर्मप्रचार हेतु देश-विदेश में विशिष्ट भिक्षुओं का प्रेषण वर्णित है ।

लङ्काद्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में लाळनरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की (जिसे भगवान् बुद्ध का आशीर्वाद प्राप्त था) । उसे अपने उच्छृङ्खल कार्यकलाप के कारण पिता द्वारा देशनिकाला दे दिया गया था । वह अपने कुछ साथियों के साथ जिस किसी तरह लङ्का द्वीप पहुँच गया । इस यात्रा-प्रसङ्ग में मार्ग में आये सूर्पारक, भरुकच्छ आदि बन्दरगाहों का भी संक्षिप्त वर्णन है, जिससे ग्रन्थकार की इतिहासपरिनिष्ठित बुद्धि का परिचय मिलता है ।

किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि उस समय लङ्का में यक्ष, दानव एवं राक्षस रहते थे । **रामायण** महाकाव्य से तुलना करने पर यह साक्ष्य प्रमाणित हो जाता है । साथ ही इस वर्णन से इतिहास-पुराण शैली का एक आदर्श स्वरूप भी प्रस्तुत हो गया है । विजय लङ्का द्वीप का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ । उसके बाद अनेक राजा हुए । (नवम परिच्छेद) ।

दशम परिच्छेद में पाण्डुकाभय राजा के जन्म का वर्णन है ।

एकादश परिच्छेद में लङ्काद्वीप एवं जम्बुद्वीप (भारत) के राजाओं का सामयिक तुलनाक्रम दे कर अशोककालीन राजा देवानाम्प्रिय तिष्य का वर्णन किया गया है ।

सम्राट् अशोक ने तृतीय सङ्गीति के बाद अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा को बुद्ध-धर्म का सन्देश ले कर लङ्का जाने की आज्ञा दी । वे अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा भी लेते गये । लङ्का के राजा देवानाम्प्रिय तिष्य के शासनकाल में बौद्ध धर्म यथाविधि लङ्का द्वीप में प्रविष्ट हुआ । बोधिवृक्ष की वह शाखा पूर्ण सम्मान के

साथ अनुराधपुर में लगायी गयी । वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गयी । एवं मिश्रक पर्वत पर भी एक विहार बनवाया गया । (द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश परिच्छेद) ।

पन्द्रहवें परिच्छेद में बड़ी धूम-धाम के साथ महाधातु-स्तूप-निर्माण का वर्णन है । इसी में यथाप्रसङ्ग भगवान् ककुसन्ध, भगवान् कोणागमन, भगवान् काश्यप के धातु-स्तूपों का भी वर्णन है ।

षोडश परिच्छेद में महाबोधि का लङ्का आगमन और सत्रहवें परिच्छेद में शासनोपयोगी तेरह (१३) बातों का विशद वर्णन एवं महेन्द्रस्थविर का परिनिर्वाण तथा देवानाम्प्रिय तिष्य के देहावसान का वर्णन है ।

अष्टादश परिच्छेद में लङ्काद्वीप की प्रशस्त भिक्षुणियों की गणना लिपिबद्ध है ।

देवानाम्प्रिय तिष्य के देहावसान के बाद, लङ्का द्वीप को एक दुःसह विपत्ति का सामना करना पड़ा । उस समय दक्षिण भारत से द्रविड़ों ने वहाँ जा कर उस द्वीप की राष्ट्रिय एकता को भङ्ग करना आरम्भ कर दिया तथा द्वीप का बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया । यों, द्रविड़ों द्वारा निरन्तर त्रस्त किये जाने पर भी लङ्का के मैत्रीभावनापरायण बौद्ध राजाओं ने उनसे युद्ध करने की बात नहीं सोची । जो भाग द्रविड़ों ने अपने अधिकार में कर लिया था, उस भाग की जनता उन द्रविड़ राजाओं के अत्याचारों से बहुत दुःखी थी । अन्त में उन्हें 'राजा दुष्ट ग्रामणी' के रूप में एक उपयुक्त नेता मिला जो उन्हें उन द्रविड़ों द्वारा प्रदत्त कष्टों से छुड़ा पाया । दुष्टग्रामणी का वास्तविक नाम ग्रामणी ही था । वह तत्कालीन बौद्ध लङ्काधिपति काकवण्ण तिस्स का पुत्र था । वह अतीव उद्धत एवं वीर स्वभाव वाला था । सोलह वर्ष की आयु में ही उसने द्रविड़ों से युद्ध करने हेतु अपने पिता से आज्ञा माँगी । अहिंसावादी बौद्ध पिता ने नरहिंसायुक्त युद्ध की आज्ञा नहीं दी । उसी कारण वह ग्रामणी विद्रोही हो गया । पिता की आज्ञा न मानने के कारण, उसके नाम के साथ जनता ने 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द लगा दिया । बाद में, पिता के मरणानन्तर, वह शोषित लङ्काद्वीपीय जनता का स्वाभाविक नेता बन गया । उसने एक सुसङ्गठित सेना तय्यार की । उसके बल पर उसने द्रविड़ों को परास्त किया । और लङ्काद्वीप को पुनः एक सूत्र में बाँधा । यह राजा दुष्टग्रामणी लङ्का का सबसे प्रबल प्रतापी राजा माना जाता है । उसने बौद्ध धर्म की बहुत अभ्युन्नति की । उसने एक नौमंजिला लौहप्रासादविहार, अपने शासनकाल में, बनवाया । साथ ही महास्तूप एवं अनेक स्तूप तथा विहार भी बनवाये ।

राजा दुष्टगामणी के बाद, उसके वंशजों में अनेक राजाओं के बाद, प्रसिद्ध राजा हुआ वट्टगामणी । इसी राजा के समय समग्र त्रिपिटक लिपिबद्ध (लेखबद्ध) किया गया । अतः उसका शासनकाल (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) पालिसाहित्य के इतिहास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

वट्टगामणी के बाद, राजा चोरनाग, तिष्य, शिव, कुटिकर्ण तिष्य का वर्णन है। (उन्नीस, बीस परिच्छेद)।

राजा कुटिकर्ण के पुत्र राजा अभय ने भी बौद्ध शासन की अभ्युन्नति में पूरा हाथ बटाया। इस के बाद राजा आमण्डगामणी अभय, कणीरजानु तिष्य, चूड़ाभय, एवं राजा शुभ हुए। (इक्कीसवाँ परिच्छेद)।

बाईसवें परिच्छेद में ग्रन्थकार लङ्का के कुछ अन्य राजाओं के बाद अन्तिम राजा महासेन का वर्णन करते हुए ग्रन्थ को एकाएक समाप्त कर देते हैं।

दीपवंस का ऐतिहासिक महत्त्व :

अब हम इन विषयों पर विचार करेंगे-(१)"दीपवंस के वर्णनों का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है ? (२) लङ्का के निश्चित इतिहास के रूप में यह कहाँ तक मान्य है? (३) भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है ? (४) पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं ?

दीपवंश का अतिरञ्जनामय वर्णन :

दीपवंस इतना अधिक अतिरञ्जनामय एवं अलौकिक वर्णनबहुल ग्रन्थ है कि उसे शब्दशः इतिहास नहीं माना जा सकता। उदाहरण स्वरूप (१) पालि त्रिपिटक के साक्ष्य से हम जानते हैं कि भगवान् अपने पैंतालीस वर्ष के चारिकाकाल में भारत के मध्यमण्डल को छोड़ कर कहीं नहीं गये। (२) राजकुमार विजय का उसी दिन लङ्काद्वीप पहुँचना जिस दिन भगवान् का महापरिनिर्वाण हुआ- यह भी वास्तविक घटनाक्रम से मेल नहीं खाता। कारण कि यदि विजय नाम का कोई व्यक्ति महापरिनिर्वाण के दिन लङ्का द्वीप गया होता और उस के प्रति भगवान् का कुछ भी आत्मीयत्व होता तो दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र में, जहाँ कि भगवान् के महापरिनिर्वाण का विशद वर्णन है, अवश्य कुछ न कुछ सङ्केत इसके लिये होता। इसी तरह (३) महेन्द्र एवं उन के सहयोगी भिक्षुओं का आकाशमार्ग से उड़ कर लङ्का में पहुँचना भी किसी अन्य साक्ष्य से प्रमाणित नहीं है। (४) इसी प्रकार लौहप्रासाद एवं महाधातुस्तूप-निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कार होना भी ऐतिहासिक शैली नहीं कहलाता। यह केवल धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ाने में ही निमित्त बन सकता है।

अतः इन या ऐसी ही अन्य बातों को एक तरफ रख कर दीपवंस की मूलवस्तु का परीक्षण किया जाय तो उससे हमें निश्चय ही प्रामाणिक इतिहास तक पहुँचने में सहायता मिलेगी। इतना ही नहीं, लङ्काद्वीप के धार्मिक एवं राजनीतिक

इतिहास के साथ साथ भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओं को सुलझाने में भी बहुत दूर तक सहयोग मिल सकता है ।

१. कालानुक्रम :

दीपवंस के अन्य वर्णन कितने ही अतिरञ्जनामय क्यों न हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य एवं महत्त्व निर्विवाद है । उन वर्णनों की इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुए प्रो.रायस डेविस कहते हैं– "लङ्का के इतिहास-ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका इङ्गलैण्ड एवं फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका से भी, जो उन देशों में अनेक शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी प्रकार कम महत्त्वशाली नहीं है ।[1]

यद्यपि विजय से प्रारम्भ कर देवानाम्प्रिय तिष्य से पूर्व तक के कालानुक्रम के विषय में तो कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु देवानाम्प्रिय तिष्य एवं दुष्टग्रामणी से महासेन तक का कालानुक्रम प्रामाणिक माना जा सकता है[2] । क्योंकि ग्रन्थ में बुद्ध महापरिनिर्वाण से कालक्रम निर्धारित करते हुए राजाओं का शासनकाल निर्धारित किया गया है, अतः उससे न केवल बुद्ध के महापरिनिर्वाण, अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं के तिथिविनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है ।

२. भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं का समर्थन :

दीपवंश में वर्णित तथ्यों से भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं का अद्भुत रूप से समर्थन मिलता है । उदाहरण के रूप में अशोक के पूर्ववर्ती राजाओं, जैसे–नौ नन्द, चन्द्रगुप्त, बिम्बिसार आदि का वर्णन, बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त एवं उस के ब्राह्मणमन्त्री चाणक्य का विवरण, सब से बढ़ कर–अशोक के बुद्धमहापरिनिर्वाण के दो सौ अट्ठारह (२१८) वर्ष बाद अभिषिक्त होना आदि इन दीपवंस आदि लङ्काद्वीपीय ग्रन्थों में ऐसे तथ्य हैं कि जो भारतीय इतिहास के समर्थन में उद्धृत किये जा सकते हैं ।

३. धर्मप्रचारहेतु धर्मोपदेशकों के भेजने का समर्थन :

दीपवंस के अष्टम परिच्छेद में वर्णित धर्मोपदेशकों का बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु देश-विदेश में गमन भी भारत में प्राप्त अभिलेखों के आधार से सत्य सिद्ध होता

है । (क) भारत के मध्यप्रदेशस्थित साँची-स्तूप में प्राप्त एक धातु-मञ्जूषा पर उत्कीर्ण है–'सुपुरिसस्स मज्झिमस्स' (सत्पुरुष मध्यम का) (ख) ऐसी ही दूसरी धातुमञ्जूषा पर उत्कीर्ण है– ' सुपुरिसस्स मोगलिपुतस्स' (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का) (ग) इसी तरह साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्टनी पर, उरुवेला से लङ्का को ले जायी जाने वाली बोधिवृक्षशाखा का अतीव मनोमुग्धकारी चित्र अङ्कित है । इससे भी दीपवंस में वर्णित सङ्घमित्रा का लङ्काद्वीपगमन प्रमाणित होता है ।

४. पुरातात्त्विक गवेषणाओं तथा चीनी यात्रियों के यात्रावर्णन से समर्थन :
(क) दीपवंस में वर्णित अशोक एवं देवानाम्प्रिय तिष्य का समकालिक होना पुरातात्त्विक गवेषणाओं तथा ह्वेनसाङ्ग आदि चीनी यात्रियों के यात्रावृत्तों से भी सत्य सिद्ध होता है । (ख) दीपवंस में वर्णित बौद्धसङ्गीतियों की ऐतिहासिकता त्रिपिटंक के चुल्लवग्ग ग्रन्थ से प्रमाणित होती है ।

अतः इन 'दीपवंस' आदि इतिहासग्रन्थों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाश्रयणीय हैं । विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक हैं ।

पालिसाहित्य और बौद्धधर्म के विकास के इतिहास में दीपवंस का साक्ष्य :

दीपवंस का विशेष महत्त्व लङ्काद्वीप के धार्मिक इतिहास-ग्रन्थके रूप में ही है ।

(१) सर्वप्रथम इस में स्थविर उपालि से स्थविर महेन्द्र तक विनयधरों का जो कालानुक्रम दिया है वह लङ्काद्वीप एवं जम्बूद्वीप–दोनों देशों में बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से अतीव महत्त्वशाली है ।

(२) लङ्काद्वीप के स्तूप, विहार एवं चैत्यों के वर्णन की दृष्टि से भी दीपवंस की रचना महत्त्वपूर्ण है । दीपवंस में अनुराधपुर के महाविहार, अभयगिरिविहार, स्तूपाराम, महामेघवनोद्यान, लौहप्रासाद आदि विहारों के वर्णन लङ्का में तीसरी-चौथी शताब्दी तक के बौद्ध धर्म में हुए विकास पर इतना प्रामाणिक प्रकाश डालते हैं कि पुरातत्त्व के अनुसन्धाताओं को उनसे बहुत कुछ सहयोग मिल सकता है ।

(३) इसी प्रकार इस ग्रन्थ में लङ्का में होनेवाले तत्कालीन उत्सवों का भी यथाप्रसङ्ग ललित वर्णन उपलब्ध है ।

(४) विशेष वर्णनीय यह भी है कि इस ग्रन्थ में भारत लङ्का द्वीप का शताब्दियों तक परस्पर आदान-प्रदान (धार्मिक, सामाजिक एवं व्यापारिक) का भी स्थान-स्थान पर अच्छा चित्रण है ।

(५) तत्कालीन भारतीय इतिहास एवं भूगोल तो मानो इस ग्रन्थ में पुनरुज्जीवित हो उठा है । राजगृह, कौसाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, विदिशा,

पुष्पपुर (पाटलिपुत्र), नालन्दा आदि का सजीव चित्रण उस समय की स्मृति को हरी-भरी (ताजा) कर देता है । बुद्ध-स्मृति से अङ्कित भारतीय नगरों का जैसे– कपिलवस्तु, कुशावती, कुशीनारा, गिरिव्रज (राजगृह), जेतवन (श्रावस्ती), मथुरा, उरुवेला (गया), काशी, ऋषिपतन (सारनाथ), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि के वर्णन से तथा अङ्ग, मगध, कलिङ्ग, चम्पा, मल्ल, वेणुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, शूर्पारक, तक्षशिला, सागल (सियालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग आदि विशिष्ट स्थानों तथा उतने ही अधिक लङ्का द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रों और स्थानों से, जो इस ग्रन्थ में वर्णित हैं,(इन के सहारे) एक भूगोल का निर्माण किया जा सकता है ।

पालि साहित्य के इतिहास में इस ग्रन्थ का साक्ष्य :

यह ग्रन्थ त्रिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है जिसके दर्शन हम पहले **अशोक के अभिलेखों** तथा **मिलिन्दपञ्ह** ग्रन्थ में करते हैं । इस ग्रन्थ में तीनों पिटकों, पाँचों निकायों तथा उनके विभिन्न ग्रन्थों को नामग्रहणपूर्वक, उनके वग्गों, पञ्ञासकों, संयुत्तों का पूर्ण विवरण देते हुए, उद्धृत किया है । इस विवरण से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक, इस ग्रन्थ के प्रणयनकाल में भी, उसी नाम एवं उसी वर्गीकरण में विद्यमान था जिस में वह आज है ।

क्या दीपवंस को महाकाव्य कहा जा सकता है?

महाकाव्य की परिभाषा करते हुए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि आचार्य दण्डिन् ने बताया है कि काव्यग्रन्थ उसे ही कह सकते है जिस में अधोलिखित अट्ठारह (१८) बातों में से सब का या अधिक से अधिक का वर्णन हो । वे अट्ठारह बातें ये हैं– १. नगर, २. अर्णव (समुद्र), ३. शैल (पर्वत), ४. छह ऋतुएँ, ५. चन्द्रोदय एवं ६. सूर्योदय का वर्णन हो, ७. उद्यानक्रीड़ा, ८. जलक्रीड़ा, ९. मद्यपानक्रीड़ा, १०. रतिक्रीड़ा आदि उत्सवों का वर्णन हो, ११. विनोदमय उपालम्भ, संवाद, १२. विवाह, १३. सन्तानोत्पत्ति का वर्णन हो, १४. मन्त्रियों के साथ गूढ मन्त्रणा, १५. दूत-संवाद, १६. शत्रु पर आक्रमण के लिये प्रस्थान, १७. युद्ध एवं १८. नायक की विजय वर्णित की गयी हो । वे कहते हैं–

"नगरार्णव शैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यान-सलिलक्रीड़ा-मधुपान-रतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोत्पत्तिवर्णनैः ।
मन्त्र-दूत-प्रयाणाजि-नायकाभ्युदयैरपि ॥"

अब पाठक स्वयं इस ग्रन्थ को पढ़कर निश्चय कर ले कि उपर्युक्त १८ बातों में से कितनी बातें इस ग्रन्थ में वर्णित हैं कि जिनके बल पर इसे महाकाव्य कहा जा सके। फिर भाषा, छन्द एवं शैली की दृष्टि से तो इसकी दुर्बलता प्रारम्भ में ही सिद्ध की जा चुकी है।

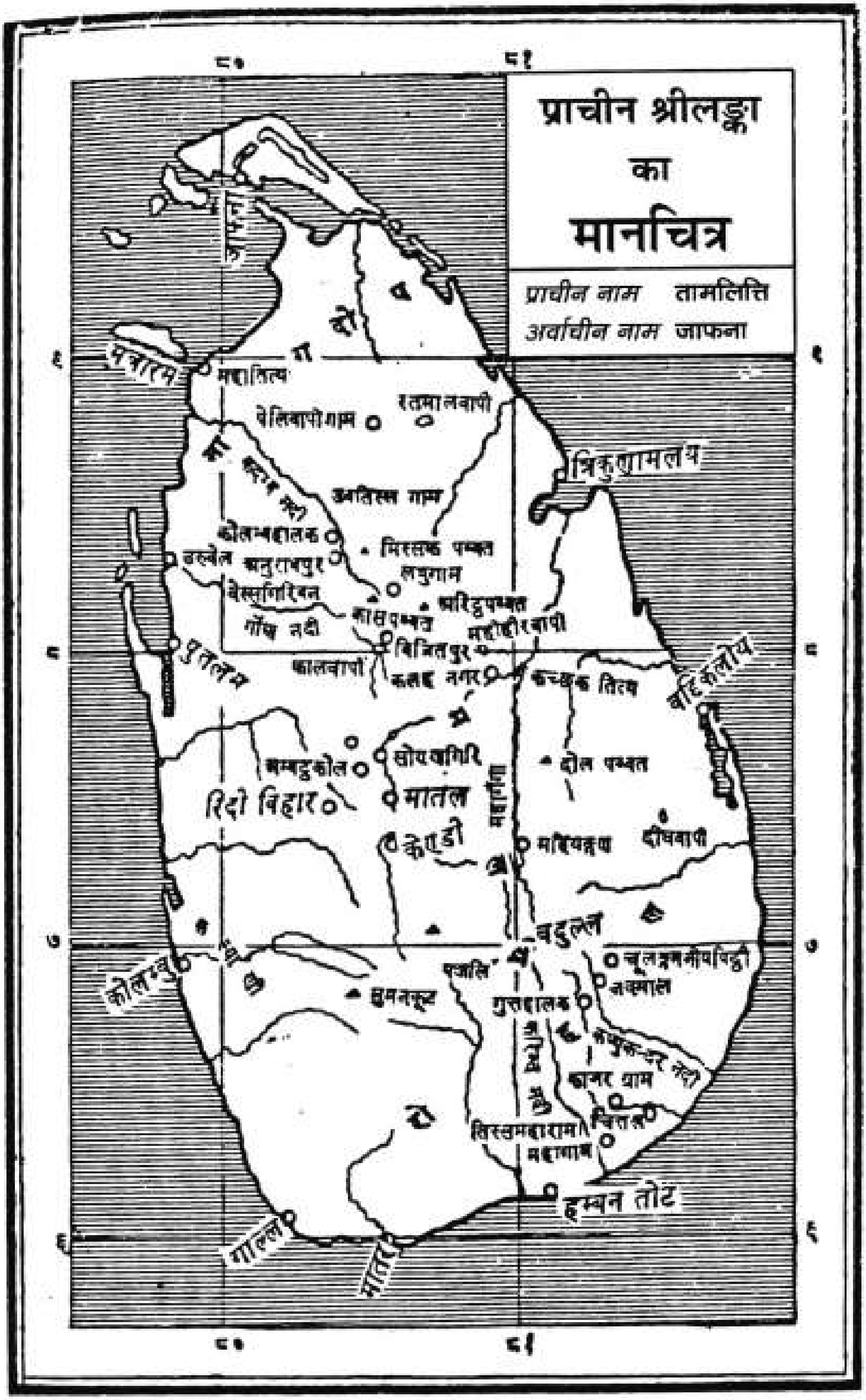
अन्त में, पाठकों से विनम्र निवेदन है कि दीपवंस-महावंस में वर्णित उभय-साधारण विषयों के विवेचन हेतु हमारी महावंस ग्रन्थ की भूमिका के अवलोकन का भी कष्ट करें। पुनरुक्तिदोष से बचने के लिये कुछ बातें वहीं लिखी गयी हैं।

वाराणसी
१५.८.९६

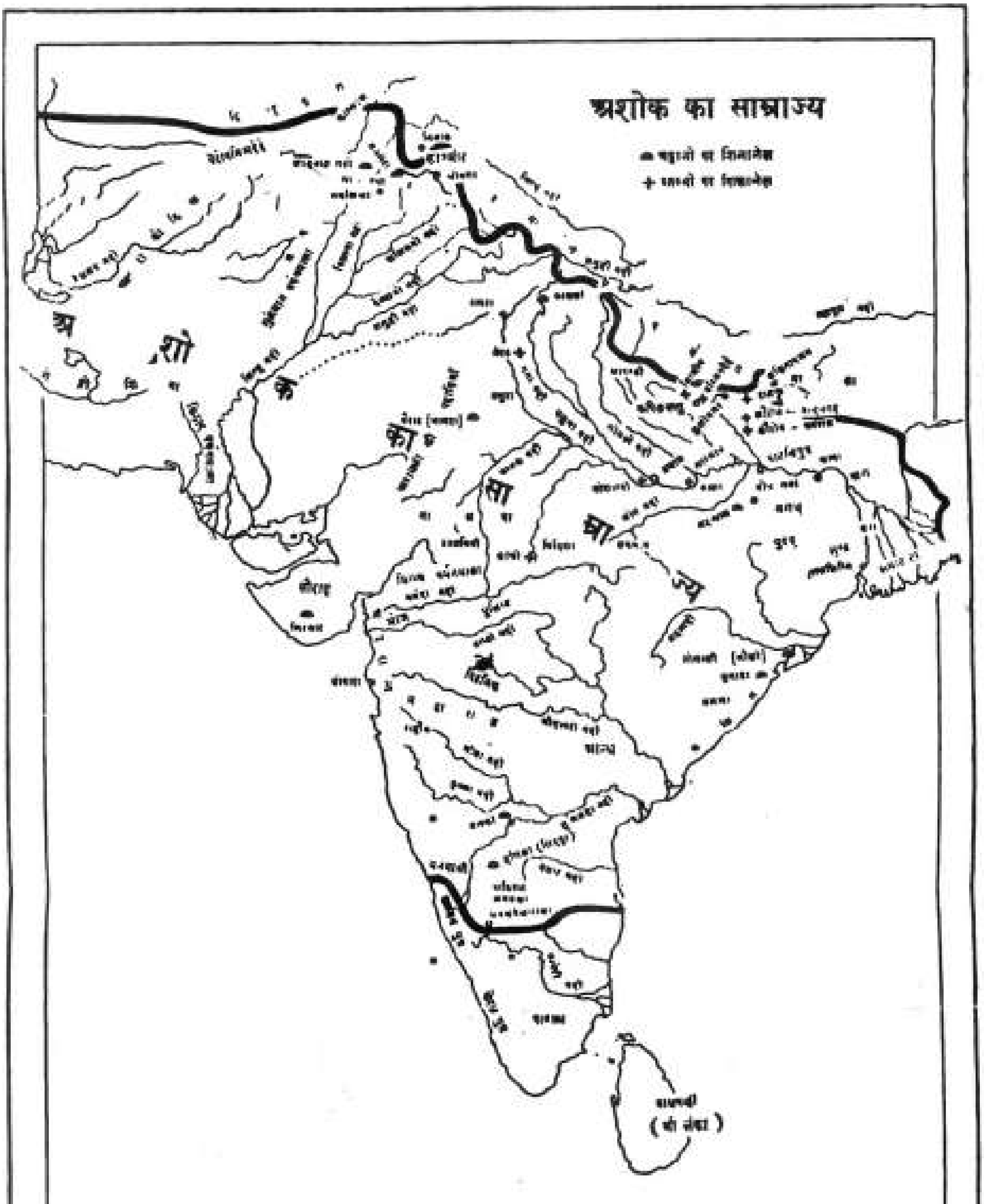
—स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

दीपवंस का

विषयानुक्रम



प्राचीन श्रीलङ्का
का
मानचित्र
प्राचीन नाम तामलित्ति
अर्वाचीन नाम जाफना
महातित्थ
वेलिवापीगाम
रतमालवापी
त्रिकुणामलय
अतिस्स गाम
कोलम्बहालक
अनुराधपुर
मिरसक पब्बत
लमुगाम
वेस्सगिरिवन
अरिट्ठपब्बत
गोण नदी
महाहीरवापी
विजितपुर
कालवापी
कलह नगर
कच्छक तित्थ
पुत्तलम
बट्टिकलाय
सोपगिरि
दोल पब्बत
रिदी विहार
मातल
कंडी
दीघवापी
बदुल्ल
कोलम्बु
सुमनकूट
गुत्तहालक
कागर ग्राम
चित्तल
तिस्समहाराम
महागाम
हम्बन तोट
गाल्ल
मातर



अशोक का साम्राज्य

दीपवंस

(हिन्दी अनुवादसहित)

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध को प्रणाम

दीपवंस

प्रथम परिच्छेद

(यक्षदमन-वर्णन)

ग्रन्थ की विषय-वस्तु–इस ग्रन्थ में हम इन विषयों का वर्णन करेंगे–१. भगवान् बुद्ध का लङ्का द्वीप में आना २. भगवान् के शरीर की धातुओं की पूजा, ३. बोधि वृक्ष का लङ्काद्वीप में लाया जाना, ४. तीनों धर्मसङ्गीतियों का वर्णन, ५. बौद्धों के आचार्यवादों का यथासमय क्रमशः विभाजन-विस्तार, ६.(लङ्का) द्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार, ७. द्वीप में प्रथम (भारतीय) राजा का आगमन, तथा, ८. उस के वंश का समय–क्रम से विस्तार । इन सभी विषयों का विस्तार से वर्णन किया जायगा । जिज्ञासु जन इसे ध्यानपूर्वक सुनें ॥ १-२ ॥

ग्रन्थ की उपादेयता–क्यों कि इन बातों का श्रवण धर्मप्रेमी जनता के लिये प्रीति एवं प्रमोद (हर्ष) का जनक है, (बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ में) श्रद्धा का उत्पादक है, मन, एवं बुद्धि के लिये पढने-सुनने में रुचिकर है । इसमें कारण यह है कि इसका अनेक प्रकार से यहाँ (इस ग्रन्थ में) वर्णन हुआ है । अतः इसे मन लगा कर आप लोग सुनें ।

इस के श्रवण में आप यत्किञ्चित् भी उपेक्षा न करें, अपितु उत्साहितचित्त, शुद्ध-हृदय, प्रहृष्टमन एवं सन्तुष्टचित होकर इसे सत्कारपूर्वक सुनें ॥ ३ ॥

विशेषतः, श्रोता इसे इसलिये भी ध्यान से सुनें कि मैं इसमें परम्परागत बौद्धों (स्थविरों तथा राजाओं) के वंश का वर्णन करूँगा, जो कि अत्यधिक प्रशस्त है (प्रशंसनीय) है, बहुत से विशिष्ट विद्वानों द्वारा अभिवर्णित भी है तथा जो इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर सुगन्धित पुष्पों की तरह गुँथा हुआ है ॥ ४ ॥

यह (इतिहास) वर्णन अनुपम है, अद्वितीय है, अच्छे वंशों के सद्गुणों से परिपूर्ण है, आर्य (श्रेष्ठ) जनों से परम्परया प्राप्त है, श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा पुनः पुनः वर्णित भी है । इसमें सबसे बढकर विशेष यह है कि इस में स्थान-स्थान पर यथाप्रसङ्ग इस द्वीप की सज्जनों द्वारा मान्य स्तुति (अच्छाइयाँ, उन्नति, विकास आदि) भी वर्णित है ॥ ५ ॥

भगवान् को बुद्धत्व-प्राप्ति--पुरुषश्रेष्ठ (गौतम) चार अङ्गों (पाद, जानु, जङ्घा एवं नितम्ब) का आश्रय लेकर दृढ, निश्चल एवं किसी भी तरह विचलित न करने योग्य श्रेष्ठ (उत्तम, आर्षभ) आसन लगा कर विराजमान हुए ॥ ६ ॥

वे प्राणियों में सर्वोत्तम, पुरुषो में श्रेष्ठ, द्रुमेन्द्र (अश्वत्थ, बोधिवृक्ष) के नीचे श्रेष्ठ पद्मासन से विराजमान होकर ऐसे बैठे थे जैसे कोई सिंह सर्वथा निर्भय होकर बैठा हो । उस समय, अपनी विशाल सेना के साथ आये मार से भी वे कोई भय नहीं मान रहे थे ॥ ७ ॥

वे मार के सभी षड्यन्त्रों को विफल कर, उसकी सेना को परास्त कर, विजयी योद्धा के रूप में सन्तोष एवं धैर्य के साथ शान्तचित्त होकर समाधि-अवस्था में विराजमान थे ॥ ८ ॥

उन्होंने, उस समय विपश्यना (अन्तर्दृष्टि), कर्मस्थान (ध्यान का विषय), योनिशः मनस्कार (यथार्थ विचार) तथा अन्य बहुत तरह के अनेक आकार वाले धर्म पर विचार किया ॥ ९ ॥

इसी तरह उन चक्षुष्मान् (दिव्यदृष्टिसम्पन्न) महाज्ञानी ने पूर्वनिवास (पूर्वजन्म) विषयक ज्ञान एवं दिव्य दृष्टि पर भी विचार किया । यों, उन्होंने रात्रि के पहले तीन प्रहर बिताये ॥ १० ॥

फिर उन शास्ता (श्रीघन) ने अन्तिम प्रहर में अनुलोम एवं प्रतिलोम क्रम से प्रत्ययों के आकार (प्रतीत्यसमुत्पाद) पर चित्त में सूक्ष्मता से विचार किया ॥ ११ ॥

यों, वे महाज्ञानी धर्म पर सूक्ष्मतया विचार कर, अकुशल धर्मों के प्रहाण एवं मार्ग-भावना का अनुसरण कर, चित्तविकारों को क्षीण कर विमुक्तिरस का पान करने लगे ॥ १२ ॥

इस तरह वे महामुनि अब तक श्रेष्ठ सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर चुके थे, अतः वे लोक में 'जान चुके' 'जान चुके' ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त कर 'बुद्ध' इस नाम से प्रख्यात हो गये ॥ १३ ॥

यो, वे प्रभाकर सभी धर्मों को सम्यक्तया साक्षात् कर, उनके विषय में विमल हृदयोद्गार प्रकट करते हुए सप्ताहपर्यन्त उस बोधि-आसन पर ही विराजमान रहे तथा विमुक्ति सुख का रसानुभव करते रहे ॥ १४ ॥

जन-हित में धर्मोपदेश हेतु विचार— यों, बोधि प्राप्त करने के बाद, अपने सभी सांसारिक दुःखों को क्षीण होने से स्वयं को कृतकृत्य मानते हुए क्षीणास्रव, प्रसन्नचित्त (उदग्र) , प्रसन्नवदन प्रहृष्ट उन भगवान् ने जनता का हित सोचते हुए बहुत तरह से चिन्तन किया ॥ १५ ॥

इस अवसर पर, भगवान् बुद्ध ने क्षण-क्षण में परिवर्तित होते हुए सभी लोकों को सब तरह से देखा । तथा उन्होंने अपने पाँच चक्षुओं से (१. मांसचक्षु, २. दिव्यचक्षु, ३. प्रज्ञाचक्षु, ४. बुद्धचक्षु[1] एवं ५. समन्तचक्षु) सभी तरह की जनता का अवलोकन किया ॥ १६ ॥

लङ्काद्वीप की उपयोगिता– तब पुरुषों में श्रेष्ठ, निष्पाप उन भगवान् ने अपने अनावरणज्ञान (बुद्ध ज्ञान) से उस श्रेष्ठ लङ्काद्वीप को देखा ॥ १७ ॥

जो प्रत्येक दृष्टि से अच्छा देश है, जहाँ यथासमय सभी ऋतुओं का आगमन-प्रत्यागमन होता है, जहाँ सदा सुभिक्ष (सुवृष्टि) ही रहता है, जो सभी तरह के रत्नों का उत्पत्तिस्थल है, जहाँ पूर्व बुद्ध भी धर्मोपदेश हेतु जाते रहे है, जहाँ विशेषतः सज्जनों का ही वास है ॥ १८ ॥

ऐसे आर्यजननिषेवित, सत्क्षेत्रभूत लङ्का द्वीप को देखकर उस पर धर्मोपदेश हेतु अनुग्रह करने का विचार करते हुए उन्होंने उस के समय-असमय का चिन्तन किया ॥ १९ ॥

तब उन्होंने विचारा–"लङ्काद्वीप में इस समय यक्ष एवं राक्षसों का बाहुल्य है ये सभी बुद्ध धर्म के विरोधी (प्रतिक्रुष्ट) हैं । इन्हें बलपूर्वक ही वहाँ से निकालना पड़ेगा ॥ २० ॥

"अतः, धर्म के आचरण में अवरोध (रुकावट) डालने वाले इन यक्ष एवं पिशाचों के समूहों को वहाँ से निकालकर उस द्वीप को सुखमय (खेम) बनाकर वहाँ मनुष्यों को वसाऊँगा ॥ २१ ॥

"यदि ये पापी अपने जीवन भर (आयुःपर्यन्त) उस लङ्का में रह गये तो वहाँ धर्मप्रचार में बहुत बाधा आयगी ॥ २२ ॥

"अतः मैं इन्हें वहाँ से निकाल कर अवशिष्ट बहुत से धार्मिक जनों को उस अच्युत एवं आर्यनिषेवित (अष्टाङ्गिक) मार्ग का उपदेश देकर ही ॥ २३ ॥

"अनुपधिशेष परिनिर्वाण को प्राप्त करूँगा, जैसे सूर्य जनता के सभी उपयोगी कार्य करके ही अस्त हुआ करता है । मेरे परिनिर्वृत होने के चार मास बाद प्रथम धर्मसंग्रह (धर्मसङ्गीति) होगा ॥ २४ ॥

"फिर इसके बाद एक सौ अट्ठारह (११८) वर्ष बीतने के बाद द्वितीय धर्म-सङ्गीति, धर्म में प्रवृत्ति (स्थिरता) लाने के लिये, होगी ॥ २५ ॥

"उस समय इस जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में एक महान् पुण्यशाली तेजस्वी (प्रतापी) राजा होगा, जिसका कि नाम 'धर्माशोक' होगा ॥ २६ ॥

"इस राजा का महेन्द्र नामक पुत्र होगा, जो पण्डित एवं गुरुमुख से धर्मश्रवण किये रहेगा वही इस समग्र लङ्का द्वीप को बुद्ध के प्रति श्रद्धालु बनायगा" ॥ २७ ॥

भगवान् ने (अपने अनावृत ज्ञान से) इस अत्यधिक अर्थयुक्त उपकारी काल-अकाल विषयक विचार को जान कर तब तक के लिये इस लङ्का द्वीप की रक्षा का उपाय कर दिया ॥ २८ ॥

भगवान् का वाराणसी-प्रस्थान--तब उन वीर भगवान् ने पर्यङ्क, अनिर्मिष, चंक्रमण, रत्नगृह, अजपाल, मुचलिन्द,एवं क्षीरपाल--इन सात आसनों पर सात सप्ताह पर्यन्त विविध प्रकार से विमुक्तिसुख का आनन्द लेते हुए धर्मचक्र-प्रवर्तन हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया ॥ २९-३० ॥

यों वहाँ (वाराणसी-सारनाथ में) भगवान् द्वारा प्रथम, अत एव अद्वितीय धर्मोपदेश करते समय अट्ठारह करोड़ (१८,००,००,०००) धर्मप्राण जन-समूह को धर्माभिसमय (धर्मलाभ) हुआ ॥ ३१ ॥

प्रथम धर्मोपदेश (धर्मचक्रप्रवर्तन) के समय-१. कोण्डञ्ञ, २. भद्दिय, ३. वप्प, ४, महानाम एवं ५. अस्सजि—इन पाँच महास्थविरों को विमुक्ति एवं शरीर की अनित्यता-अनात्मता का ज्ञान हुआ ॥ ३२ ॥

इसी तरह वाराणसी-इसिपतन में रहते हुए भगवान् ने (श्रेष्ठिपुत्र) यश, उसके चार साथी, फिर पचास (५०) तरुणों का भी अपने धर्मोपदेश से उद्धार किया ॥ ३३ ॥

वाराणसी में ही वर्षावास करते हुए भगवान् तथागत ने कपास के वनषण्ड में कुछ भद्रवर्गियों का उद्धार किया ॥ ३४ ॥

उरुवेल गमन--(फिर वर्षावास के बाद) क्रमशः चारिका करते हुए उरुवेल (गया के पास) पधारे । वहाँ भगवान् ने उरुवेल-काश्यप जटिल का चित्त निष्पाप (निर्विकार) देखा ॥ ३५ ॥

(अतः उसके अग्न्यागार में ठहरने का विचार कर) वहाँ उस पुरुषोत्तम ने अग्न्यागार मे रहने वाले भयङ्कर विषधर अहिनाग का दमन किया । भगवान् का यह आश्चर्यजनक कार्य देखकर सभी (जटिलों) ने उनको सादर निमन्त्रित किया और कहा ॥ ३६ ॥

"भो गौतम! आप इस हेमन्त ऋतु के चार मास तक यहीं विराजें, हम आप की, प्रतिदिन भोजन देकर, सेवा करेंगे "॥ ३७ ॥

यों (निमन्त्रण स्वीकार कर,) भगवान् उस हेमन्त ऋतु में उरुवेला में ही वास करते हुए समग्र जटिल-समूह सहित उन तीनों जटिलों को धर्म-प्रवचन करते रहे ॥ ३८ ॥

इसी समय जटिलों ने एक महायज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया । उसमें अङ्ग एवं मगध देशों के बहुत से विशिष्ट नागरिक अपनी तरफ से उपहार ले लेकर वहाँ उपस्थित होते । इस से उन जटिलों को अत्यधिक आर्थिक लाभ होता । अतः उन जटिलों ने सोचा– ॥ ३९ ॥

"यह महाश्रमण (गौतम) अत्यधिक ऋद्धिसम्पन्न है, एवं इसका आनुभाव (तेज, प्रताप) भी हमलोगों से अधिक है । यदि यह इस यज्ञ में उपस्थित जनता को यज्ञ के विरोध में कुछ कहने लगेगा तो वे नागरिक हमसे विमुख हो जायँगे । यों, हमारा वह आर्थिक लाभ क्षीण हो जायगा । अतः क्या ही अच्छा हो, ये श्रमण गौतम कुछ दिन के लिये कहीं चले जाँय ! यज्ञ के अवसर पर ये यहाँ उपस्थित न रहें" ॥ ४०-४१ ॥

भगवान् तो मानवचित्त की चरित, अधिमुक्ति, आशय एवं अनुशय आदि सोलहों (१६) गतियाँ जानते थे ॥ ४२ ॥

अतः परचित्त के ज्ञाता भगवान् ने जटिलों द्वारा मनमें सोची हुई बात जान ली, और वे अपने ऋद्धिबल से भिक्षा (पिण्डपात) हेतु कुरुद्वीप जाकर ॥ ४३ ॥

वहाँ, भगवान् ने अनवतप्तदह (मानसरोवर) पर भोजन किया और वे वहीं लोकहितार्थ ध्यानसमापत्ति (समाधि) में लीन हो गये ॥ ४४ ॥

समाधि से उठकर लोकमें श्रेष्ठ भगवान् ने अपने पाँच चक्षुओं में से बुद्धचक्षु से समग्र लोक का अनुवीक्षण किया । वहाँ उन्हें श्रेष्ठ, निष्पाप लङ्का द्वीप दिखायी दिया ॥ ४५ ॥

उस समय लङ्काद्वीप की यह स्थिति थी कि वह लङ्का भूमि उस एक भयङ्कर महावन (घोर अरण्य) के रूप में परिवर्तित हो गयी थी। उसमें उस समय सब तरफ महाभयानक, लोभी, रक्तपिपासु यक्ष-राक्षस निर्भीक होकर भ्रमण कर रहे थे ॥ ४६ ॥

वे सभी चण्ड (क्रोधी) थे, कठोर रुद्ररूप थे, नाना रूप धारण कर लेते थे, नाना प्रकार की अधिमुक्ति (विश्वास) करने में प्रवीण थे, वे सभी इस समय किसी सम्मेलनविशेष में एकत्र हुए थे ॥ ४७ ॥

भगवान् ने विचार किया–"इस समय वहाँ जाकर उन के बीच में बैठकर किसी न किसी उपाय से उन पिशाचों तथा राक्षसों को निकाल देने पर वहाँ (उस द्वीप के) मनुष्य ही अधिपति (ईश्वरस्वामी) हो जायँगें" ॥ ४८ ॥

भगवान् ने यह लोकहितकारी चिन्तन किया, और वे आकाशमार्ग से चलकर, जम्बुद्वीप से लङ्काद्वीप पहुँचे ॥ ४९ ॥

यक्षसमागम–तथा वे उस यक्षसमागम में पहुँच कर, आकाश में स्थित रहते हुए सबके सिर पर बैठे हुए से दिखायी दिये ॥ ५० ॥

तो भी वहाँ एकत्र हुए वे यक्ष उन्हें उस अवस्था में बुद्धरूप में नहीं पहचान सके, अपितु वे समझते रहे कि हम में से कोई यक्ष ही बैठा हुआ है ॥ ५१॥

यह यक्षसमागम गङ्गा के दक्षिण तट पर, जहाँ आज महियङ्गणस्तूप बना हुआ है उसी स्थान पर, हो रहा था। हमारे पुरुषोत्तम भगवान् आकाश में ही विशिष्ट समाधि लगाकर बैठ गये ॥ ५२ ॥

ऐसे आश्रयविहीन स्थान पर भी भगवान् समाधिसमापन्न हो जाते थे और वे जब चाहते थे तब उस समाधि से उठ भी जाते थे ॥ ५३ ॥

इस तरह आकाशस्थित भगवान् ने यक्षरूप में अपने प्रताप से आकाश से भयङ्कर जलधारा बरसानी प्रारम्भ की । इस से कुछ ही क्षणों में ऐसा दुर्दिन हो गया कि हड्डियाँ कम्पा देने वाली ठण्ढी हवा भी उस वर्षा के साथ ही बहने लगी ॥ ५४ ॥

(इससे वे यक्ष शीत के कारण ठिठुरने लगे । वे तत्काल ही किसी तरह उष्णता (गर्मी) चाहने लगे । तब भगवान् ने कहा–)

"मैं तुम लोगों को उष्णता दे सकता हूँ, यदि तुम लोग मुझे बैठने के लिये कहीं उचित स्थान दे सको । मुझ में इतना सामर्थ्य है कि मैं तुम्हारे कष्टों का निवारण कर सकता हूँ" ॥ ५५ ॥

यक्ष बोले–"यदि आप हमारे कष्टों का निवारण कर सकें तो आप जिस स्थान पर विराजमान होना चाहें, विराजें । " ऐसा कहकर सभी यक्षों ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपना अलौकिक सामर्थ्य दिखावें ॥ ५६ ॥

भगवान् बोले– "तुम उष्णता की भी अभिकांक्षा कर रहे हो, तथा मेरा सामर्थ्य भी देखना चाहते हो । तो लो! मैं तुम्हारे लिये वह उष्णता प्रकट करता हूँ जो तुम्हें अभिवाञ्छित है" ॥ ५७ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु के समय मध्याह्न काल में सूर्य तपता है, इसी तरह वह भगवान् द्वारा उत्पादित उष्णता यक्षों के शरीर पर तीव्रता से पड़ने लगी ॥ ५८ ॥

जैसे कल्पावसान के समय चार सूर्य एक साथ निकल कर जगत् पर भयङ्कर उष्णता फैंकते हैं उसी तरह उस समय भगवान् द्वारा अपने सामर्थ्य से प्रकट की गयी उस उष्णता का भी वही प्रभाव था ॥ ५९ ॥

जैसे सूर्य के उदित होने पर आकाश में साधारण प्राणी की गति कठिन हो जाती है; उसी तरह भगवान् का वह प्रदीप्त चर्मासन भी आकाश में अन्य को किसी भी तरह गतिमान् नहीं होने दे रहा था ॥ ६० ॥

भगवान् का वह चर्मासन उस समय वही प्रखर उष्णता फैंक रहा था, जैसे कल्पावसान के समय उदित चार (४) सूर्य उष्णता प्रकट किया करते हैं ॥ ६१ ॥

तब यक्षों ने सोचा– "भगवान् का वह चर्मासन उष्णता से प्रदीप्त होता हुआ वैसा ही दिखायी दे रहा है मानो आकाश में प्रखर रूप से तपता हुआ कोई लौह पर्वत हो ॥ ६२ ॥

"यह महाप्रतापी यक्ष यदि पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण, ऊपर नीचे सभी दशों दिशाओं को इसी तरह प्रज्वलित करता रहा तो हमलोग इस प्रखर उष्णता के रहते कैसे सुखी, कैसे स्वस्थ (नीरोग) रह पायेंगे, हम इस प्रखर उष्णता की भयङ्करता से कैसे मुक्त हों! ॥ ६३ ॥

तब तो हम सभी इस द्वीप से उसी तरह प्रलीन हो जायेंगे जैसे हाथ की मुट्ठी में ली हुई रज (धूल) मुख की तीव्र वात (फूँक) से उड़ा दी जाती है" ॥ ६४ ॥

तब, उन अनुकम्पक एवं दयालु ऋषिश्रेष्ठ बुद्ध ने, जो सभी के लिये सुख की ही कामना करते है, उन यक्षों को इस तरह दुःखी एवं भयार्त देखकर, उन के सुखमय जीवन के लिये भी चिन्तन किया ॥ ६५ ॥

तब उनके चित्त में, यह बात ध्यान में आयी– "इन यक्षों के लिये कोई एक ऐसा द्वीप क्यों न खोज दिया जाय जो इस द्वीप की अपेक्षा निम्न स्थल वाला हो, सर्वत्र समतल भी हो, और इन यक्षों के अनुकूल भी हो, जहाँ जलसुविधा हेतु नदी-पर्वत-तालाबों में निर्मल जल हो, ऐसा कोई पहाड़ी द्वीप हो जो इस लङ्काद्वीप की तरह इनको सर्वथा सुविधाजनक हो ॥ ६६ ॥

(यों विचार करते-करते भगवान् के ध्यान में आया कि) "इस लङ्का द्वीप से आगे समुद्र के बीच में एक ऐसा द्वीप है जो भयरहित हैं, जहाँ प्रभूत खाद्यसामग्री है, जो नानाविध धान्यों से सम्पन्न हैं, जहाँ सभी ऋतुएँ यथासमय आती रहती हैं, जहाँ सब तरफ कोमल तथा हरी घास से भरी हुई भूमि है–वह द्वीप इस लङ्काद्वीप से सभी दृष्टियों से अच्छा है ॥ ६७ ॥

"जो द्वीप रम्य भी है, मनोहारी भी है, हरा-भरा भी है और ठण्डा भी है। वहाँ अनेक बाग-बगीचे एवं सुन्दर वन भी हैं, जिनमें सब तरह से फले-फूले वृक्ष भी है। साथ ही वह अन्य प्राणियों से शून्य (रहित) भी है और एकान्त (विविक्त) भी है। सब से बड़ी बात वहाँ यह है कि उसका कोई स्वामी (राजा) भी नहीं है ॥ ६८ ॥

"वह समुद्र से घिरा हुआ है, तथा समुद्र के मध्य में स्थित होने के कारण उसके चारों तरफ समुद्र के जल की इतनी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठती रहती हैं कि उनके भय से वहाँ जाने के लिये कोई साहस नहीं कर पाता, अतः वह 'सुदुर्गम' है। अथ च, वहाँ पर्वतसमूह का बाहुल्य होने के कारण, वहाँ के निवासियों के लिये किसी प्रकार का अनिष्ट या भय उत्पाद करना भी सब के लिये दुष्कर है ॥ ६९ ॥

"ये यक्ष-राक्षस भी स्वभावतः ऐसे है जो दूसरों के प्रति वृथा ही अभिमान एवं क्रोध करते रहते हैं, दूसरे की पीठ का माँस नोंचने वाले (दूसरे पर अकारण आक्रमण करने वाले) हैं, ये निर्दय हैं, दूसरों को दुःख देने में ही सुख मानने वाले हैं, ये चण्ड (अतिक्रोधी) हैं, रौद्र हैं, या दिन-रात सोते रहते हैं। ऐसे ये यक्ष-राक्षस इस एकान्त एवं शून्य द्वीप में स्वाभिमान के साथ रह सकेंगे; क्योंकि यहाँ इनका कोई विरोधी (शत्रु) नहीं होगा ॥ ७० ॥

"इस तरह ये दुष्ट यक्ष-राक्षस जो कि इस लङ्का द्वीप में चिर काल से रहते आ रहे है, यदि मैं इन्हें यह पुराना गिरिद्वीप वासहेतु पूर्णतः दे दूँ तो ये यहाँ अपने बाल-बच्चों के साथ सुखपूर्वक रह सकेंगे ॥ ७१ ॥

"साथ ही लङ्का द्वीप भी फिर से उन मनुष्यों के निवासयोग्य हो जायगा, जो यहाँ पूर्व के कितने ही कल्पों से रहते आ रहे थे। अब वे (मनुष्य) पुनः इस लङ्का द्वीप में आकर सुख एवं सामर्थ्य सम्पन्न होकर पहले की तरह बसने लगेंगे ॥ ७२ ॥

"इस तरह यक्षों से रहित हुआ एवं इन तथा ऐसे ही अन्य अनेक गुणों से युक्त यह द्वीप भी पुनः मनुष्यों के आवासयोग्य हो जायगा। समय आने पर यह द्वीप धर्म का प्रचार होने पर अन्य द्वीपों में अपनी वैसी ही विशेषता (भेद) बना लेगा जैसे उपोसथ (पूर्णिमा) के दिन आकाश में विशेषरूप से चमकता हुआ चाँद बना लेता है" ॥ ७३ ॥

यों, लोकव्यवहारज्ञ भगवान् (बुद्ध) ने इन दोनों (यक्ष एवं मनुष्यों) के ही हित एवं सुख की कामना उसी तरह की जैसे कोई गृहस्थ अपने दोनों बैलों की सुखकामना करता है ॥ ७४ ॥

तब भगवान् (गौतम) ने अपने ऋद्धिबल से उस द्वीप को उसी तरह (समुद्रतल से) ऊपर उठा लिया जैसे नाव या बैल को दृढ़ रज्जु बाँध कर खींच लिया जाता है। फिर उन दोनों द्वीपों को एक दूसरे के पास ऐसे ही लाकर मिला दिया जैसे दो नावें एक ही दृढ रज्जु से बन्धी हों ॥ ७५ ॥

यों, उन्होंने दोनों द्वीपों को एक साथ मिला कर, उस दूसरे द्वीप को यक्ष राक्षसों के वास के लिये ऐसा अनुकूल बना दिया कि ये अपने लिये पका हुआ मांस (खाद्य) एवं आवास सुव्यवस्थित रूप से प्राप्त कर सकें ॥ ७६ ॥

जैसे ग्रीष्म ऋतु में कोई प्यासा आदमी गङ्गा (जलपूर्ण नदी) की खोज करता हो उसी तरह वे यक्ष-राक्षस अपने वास के लिये उस गिरिद्वीप में जब प्रविष्ट हुए तो भगवान् भी आकाश से भूमि पर उतर आये ॥ ७७ ॥

उस गिरिद्वीप को पाकर यक्ष पूर्णतः सन्तुष्ट हुए, राक्षस भी पूर्णतः प्रसन्न हो गये; क्योंकि उनकी यथाभीप्सित आकांक्षा (मनचाही माँग) पूर्ण हो गयी । तब वे निर्भीक एवं अत्यधिक प्रमुदित होते हुए उस उत्सव–सम्मेलन में पुनः एकत्र हुए ॥ ७८ ॥

जब भगवान् ने देखा कि वे यक्ष-राक्षस (वह गिरिद्वीप वास के लिये पाकर) अत्यधिक सन्तुष्ट एवं सुखी है तो उनके प्रति स्वचित्त में मैत्री भावना उत्पन्न करते हुए उन्हें कुछ स्वल्प धर्मोपदेश किया और द्वीप की तीन बार प्रदक्षिणा की, जिसके प्रभाव से वह लङ्का द्वीप यक्ष-राक्षसों से विहीन रहता हुआ सुरक्षित रहे ॥ ७९ ॥

निगमन– यों, भगवान् उस लङ्का द्वीप के वासी यक्ष-राक्षसों को पृथक् द्वीप में बसाकर उन्हे सन्तुष्ट करते हुए तथा उनके प्रति दृढ मैत्री भावना प्रकट करते हुए, लङ्का द्वीप का समग्र उपद्रव (सङ्कट) मिटाकर, पुनः (जम्बुद्वीप के) उरुवेल स्थान पर (जटिलों के आश्रम में) लौट आये ॥ ८० ॥

प्रथम परिच्छेद समाप्त ॥
यक्ष दमन-वर्णन समाप्त ॥
प्रथम भाणवार समाप्त ॥

(इस प्रकरण के कथाविस्तार के लिये महावंस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद का 'महियङ्गणगमन' नामक प्रसङ्ग भी देखें -अनु० ।)

द्वितीय परिच्छेद

(नाग-दमन)

एक समय श्रीघन (शास्ता) भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध कोसल देश के श्रेष्ठ नगर (श्रावस्ती) के सुन्दर जेतवनविहार में साधनाहेतु विराजमान थे ॥ १ ॥

उस जेतवन में विराजे हुए प्रभाकर (तेजस्वी), धर्मस्वामी, भगवान् बुद्ध ने अपनी दिव्य दृष्टि से सभी लोकों का समीक्षण करते हुए ताम्रपर्णी द्वीप को देखा ॥ २ ॥

भगवान् का ताम्रपर्णीगमन–

(प्रथम लङ्काद्वीप-यात्रा के) पाँच वर्ष व्यतीत होने पर, भगवान् वहाँ पुनः पधारे । वहाँ उन्होंने धर्मविरोधियों (अवरोधकों) को स्वयं परास्त कर द्वीप को पुनः पवित्र बनाया ॥ ३ ॥

नागयुद्ध–उस समय पर्वत एवं द्वीप के रहने वाले दोनों ही नागसमूह परस्पर भयङ्कर युद्ध में लिप्त थे ॥ ४ ॥

ये सभी नाग महान् ऋद्धि से सम्पन्न थे । सभी भयङ्कर (प्राणहर) विष से युक्त थे । सभी पापी, भयानक (प्रचण्ड), मदोन्मत्त एवं स्वकीय बल के अभिमानी थे ॥ ५ ॥

वे सभी शीघ्रता करने वाले, महान् तेजस्वी, दुष्ट, कर्कश (कठोर) एवं खर (रूखे) स्वभाववाले, उद्ध्यानसंज्ञी (परस्पर दोषारोप करने वाले), क्रोधी एवं एकान्त (बिल) चाहने वाले (एकाकी ही रहने के स्वभाव वाले) सर्प थे ॥ ६ ॥

उनमें कुछ अतिविशाल (लम्बे) शरीर वाले, कुछ लघुकाय (छोटे शरीर वाले), कुछ महान् तेजस्वी तथा कुछ अल्प तेजस्वी–दोनों ही प्रकार के सर्प थे । उनकी ये दोनों ही जातियाँ बलवती एवं रूपवती थीं ॥ ७ ॥

उनमें **महोदर** (विशालकाय) नाग अपने से बढ़कर किसी को भी बलवत्तर नहीं समझता था। वह अपने बल के अभिमान में इतना उन्मत्त था कि वह यही समझता था–"मैं एकाकी ही वन-पर्वत सहित शत्रु पक्ष के समग्र सर्पसमूह को विनष्ट करने में समर्थ हूँ" ॥ ८ ॥

उधर, **चूळोदर** (लघुकाय) नाग भी अपने अभिमान के मद में उन्मत्त होकर गर्जना करता था–"भले ही मेरे सम्मुख युद्ध हेतु हजारों या करोड़ों नाग भी क्यों न आ जायँ, मैं उन्हें विनष्ट करता हुआ सौ योजन द्वीप की इस भूमि को प्राणहीन कर समतल क्षेत्र बना दूँगा" ॥ ९ ॥

यों, अपने दुःसह (प्रबल) विषवेग से दूसरों को प्रदूषित करने वाले महान् ऋद्धिसम्पन्न, क्रोधी स्वभाव वाले, अपने 'भुजगेन्द्र' नाम को यथार्थ करने वाले वे नाग युद्ध में शत्रु का प्रत्येक प्रकार से मर्दन करने में समर्थ थे ॥ १० ॥

भगवान् बुद्ध ने उन सर्पों का वह विशेष क्रोध देखकर सोचा कि यों तो ये नाग परस्पर युद्ध करते हुए द्वीप को शून्य प्राणरहित बना देंगे ! अतः लोकहित-चिन्तक भगवान् बुद्ध ने देवताओं सहित इस लोक का दूरगामी परिणाम वाला यह चिन्तन किया– ॥ ११ ॥

"यदि मैं इस समय वहाँ न जाऊँगा तो ये नाग परस्पर युद्ध कर भविष्य में न केवल अपना ही नाश कर लेंगे, अपितु, अपने साथ ही अपने द्वीप का भी विनाश कर बैठेंगे"। अतः नागों पर कृपालु एवं उनके लिये सुख चाहनेवाले भगवान् ने सोचा कि क्यों न मैं द्वीप की सुख-समृद्धि हेतु तत्काल वहाँ पहुँच जाऊँ ॥ १२ ॥

लङ्काद्वीप की विशेषताएँ देखकर, जिसकी कि उन्होंने अतीत में यक्ष जाति से रक्षा की थी, उन्होंने सोचा कि ये दुष्ट पन्नग वहाँ मेरे द्वारा किये गये अच्छे कार्य को भी अपने कुकृत्यों से नष्ट न कर डालें ॥ १३ ॥

भगवान् का नागयुद्ध के निवारणहेतु गमन– यह कह कर ज्ञानदर्शी (चक्षुष्मान्) भगवान् बुद्ध आसन से उठकर, गन्धकुटी (साधनाकुटी) से निकल कर, द्वार पर खड़े हो गये ॥ १४ ॥

उस समय, जेतवन में जितने भी देवता रहते थे, वे सब भगवान् के सम्मुख उपस्थित हो गये और बोले– "भो चक्षुष्मन् ! हम भी आपके साथ चलें?" ॥ १५ ॥

भगवान् बोले– "नहीं, आप लोग सब यहीं ठहरें । केवल एक समृद्धि (सुमन) ही मेरे साथ, अपनी पीठ पर वृक्ष रखकर आवें" ॥ १६ ॥

भगवान् के ये वचन सुनकर समृद्धि अतीव प्रमुदित हुआ । उसने मूल (जड़) सहित वृक्ष साथ में लेकर भगवान् का अनुगमन किया ॥ १७ ॥

इस यात्रा के समय, देवराज इन्द्र पुरुषोत्तम भगवान् बुद्ध पर छत्र किये हुए उनके पीछे-पीछे चलने लगा ॥ १८ ॥

नागयुद्ध रोकने का उपाय–इस तरह वे कृपालु सम्बुद्ध, उन दोनों युद्धरत नागसमूहों के बीच में जाकर खड़े हो गये ॥ १९ ॥

और वहाँ आकाश में स्थित रहकर उन लोकनायक ने अपने ऋद्धिबल से कृत्रिम घोर अन्धकार पैदा कर दिया ॥ २० ॥

जब लोकनाथ के उस अनुपम ऋद्धिबल से (सूर्य के छिपने से) घोर अन्धकार पैदा हो गया तब वहाँ का सम्पूर्ण क्षेत्र अन्धकारावृत हो गया ॥ २१ ॥

जब वे नाग वहाँ परस्पर एक दूसरे को न देख पाये तो वे बहुत त्रस्त हो गये, साथ ही भयभीत भी । इस स्थिति में, जबकि वे स्वयं को ही नहीं देख पा रहे थे, तब संग्राम करना तो बहुत दूर की बात हो गयी! ॥ २२ ॥

अतः, वे सभी संग्राम से विरत होकर, शस्त्र त्यागकर, भगवान् को प्रणाम करते हुए उनके सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥ २३ ॥

ऐसी स्थिति में, भगवान् ने उन नागों को रोमाञ्चित एवं भयार्त देखकर, मैत्री चित्त से भावना करते हुए उष्णरश्मि (= सूर्य) को मुक्त कर दिया ।। २४ ।।

यों, उस समय अद्भुत एवं रोमहर्षक प्रकाश सर्वत्र फैल गया । तभी सब (नागों) ने भगवान् बुद्ध को वैसा ही देखा जैसे आकाश में निर्मल चन्द्रमा दिखायी दे रहा हो ।। २५ ।।

छह वर्णों से युक्त, आकाश में देदीप्यमान, दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए भगवान् बुद्ध ने नागों (के राजा) से पूछा–।। २६ ।।

"महाराज! नागों में यह विवाद किस कारण से प्रारम्भ हो गया? मैं तो तुम ही पर अनुकम्पा करने के लिये, इतनी शीघ्रता (जव=वेग) से यहाँ चला आ रहा हूँ" ।। २७ ।।

नागों ने भगवान् को बताया— "भगवन्! यह चूळोदर नाग है और यह महोदर! यहाँ मामा (महोदर) अपने भागिनेय (चूळोदर) से धन के लोभ में पड़कर युद्ध कर रहा है" ।। २८ ।।

उन क्रोधी नागों का इस (युद्ध) कृत्य से अनुदय (हानि) देखते हुए भगवान् ने कहा--" मूर्खों का साधारण कलह भी, आगे चल कर, बहुत विनाशकारी हो जाया करता है ।। २९ ।।

"आप लोग इतने नाग मिलकर किसलिये युद्ध कर रहे हैं? कहीं यह साधारण पलंग (मणिमय आसन) तुम्हारे समग्र कुल का नाश न करा बैठे! क्यों तुम एक दूसरे का विनाश करने पर कटिबद्ध हो! क्यों यह व्यर्थ जीव-हिंसा करने पर कटिबद्ध हो रहे हो!" ।। ३० ।।

एतदनन्तर ज्ञानदर्शी उन भगवान् बुद्ध ने उन नागों को धर्माचरण के प्रति उत्साहित करते हुए नरक लोक के भयङ्कर दुःखों का विस्तार से वर्णन किया ।। ३१ ।।

साथ ही उनको मनुष्ययोनि एवं देवयोनि में उत्पत्तियों का महत्त्व भी विस्तार से बताया । इसी के साथ भगवान् ने उनको सद्धर्म का उपदेश भी किया ।। ३२ ।।

(भगवान् के इस उपदेश से प्रभावित होकर) सभी नाग, भूमि में लम्बे (दण्डवत्) गिरकर, भगवान् से अपने इस अपराध की क्षमा-याच्ञा करने लगे । फिर सभी नाग एवं पन्नग एकत्र हुए ।। ३३ ।।

नागों का पर्यङ्क-दान हेतु सङ्कल्प– वे सभी नाग अस्सी करोड़ (८0,00,00,000) प्राणियों के साथ भगवान् की शरण में गये। और यह सोचकर कि "इस पलंग के कारण हमारी यह समग्र नाग जाति ही विनष्ट हो जायगी"॥ ३४ ॥

वे दोनों नागराज, अन्य सभी नागों को साथ में (रखते हुए) एकत्र होकर, उस पलंग को भगवान् के सम्मुख रखकर भो चक्षुष्मन्! आप ही इसे स्वीकार करें" —यह कहने लगे ॥ ३५ ॥

भगवान् ने मौन रहकर नागों का यह उपहार स्वीकार कर लिया। भगवान् की स्वीकृति जानकर वे दोनों नागराज अत्यन्त प्रमुदित हुए ॥ ३६ ॥

तब उन सन्तुष्ट हुए नागराजों ने भगवान् से पुनः निवेदन किया–"सुगत! आप इस वैदूर्य मणियों से निर्मित प्रभास्वर, उच्चजाति के रत्नों से सम्पन्न, नागों द्वारा प्रस्तुत पर्यङ्क (सिंहासन) पर विराजमान होने की कृपा करें" ॥ ३७ ॥

यों कहकर उन नागों ने उस पलंग को द्वीपों के बीच में रख दिया। धर्मराज प्रभाकर भगवान् उस पर विराजमान हुए ॥ ३८ ॥

तब भगवान् ने उन अस्सी करोड़ (८0,00,00,000) नागों को उपदेश करते हुए धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया। फिर नागों ने भगवान् को विविध अन्न एवं पान से युक्त भोजन कराया ॥ ३९ ॥

भोजन के बाद, भगवान् को थाली से हाथ हटाया देखकर, वे अस्सी करोड़ (८0,00,00,000) नाग भगवान् को परिवृत (घेर) कर धर्मश्रवणार्थ उनके समीप बैठ गये ॥ ४0 ॥

मणिअक्षक नाग– कल्याणी नदी के मुहाने पर एक महानाग परिवार एवं पुत्रों सहित रहता था। उस परिवार के प्रधान का नाम था 'मणिअक्षिक' ॥ ४१ ॥

वह धर्म के प्रति श्रद्धालु, त्रिशरणसम्पन्न, सम्यग्दृष्टि एवं शीलाचारसम्पृक्त था। वह उस नागसमागम (सम्मेलन) में जाकर, भगवान् का उपदेश सुनकर उनके धर्म के प्रति और भी अधिक श्रद्धावान् हो गया ॥ ४२ ॥

वहाँ वह, भगवान् का ऋद्धिबल देख कर, भगवान् की अधिक अनुकम्पा प्राप्त करने के लिये, भगवान् के सम्मुख जाकर, उन्हें प्रणाम कर एक तरफ बैठ गया। तब उसनें तथागत से यह प्रार्थना की–॥ ४३ ॥

"आपने प्रथम बार इस द्वीप पर तब अनुकम्पा की थी जब आप यक्षदमनहेतु इस द्वीप में पधारे थे । पुनः दूसरी बार आपने अब अनुकम्पा की है कि आज इस नागयुद्ध के निवारणहेतु यहाँ पधारे हैं ॥ ४४ ॥

"अब मेरी भगवान् से पुनः प्रार्थना है कि आप एक बार पुनः इस द्वीप पर पधारें । उस समय मैं आपका आदर-सत्कार एवं सेवा (=वेय्यावच्च) करूँगा" ॥ ४५ ॥

नाग का यह कथन सुनकर सत्त्वानुकम्पी भगवान् ने लङ्काद्वीप के हित में मणिअक्षिक का यह कथन (प्रार्थना) स्वीकार कर लिया और बैठ गये ॥ ४६ ॥

भोजन करने के बाद, कुछ समय वे पलङ्ग पर भी बैठे । फिर उन तेजस्वी महामुनि ने द्वीप के मध्य एकान्त में जाकर दिन में की जानेवाली साधना की ॥ ४७ ॥

यों उस ज्ञानिश्रेष्ठ चक्षुष्मान् भगवान् ने दिन भर द्वीप के मध्य अरण्य में एकान्तवास करते हुए ब्रह्मविहार-समाधि सुख का उपभोग किया ॥ ४८ ॥

सायङ्काल होने पर भगवान् ने सभी नागों को आमन्त्रित किया, एवं उनको आदेश दिया--"यह पलंग एवं यह राजायतन (क्षीरपाल) वृक्ष (जिसे समृद्धि सुमन जेतवन से अपने साथ लाये थे)– दोनों ही आज से यहीं प्रतिष्ठित रहेंगे । तथा आज से सभी नाग इस वृक्ष एवं पलंग को प्रतिदिन प्रणाम करते रहेंगे" ॥ ४९ ॥

भगवान् पन्नगों को यह आदेश देकर एवं उन्हें और भी कई तरह धर्मोपदेश (धर्मानुशासन) कर तथा उन्हें परिभोगचैत्य (की सामग्री) देकर पुनः जेतवन पधार गये ॥ ५० ॥

नागदमनवर्णन समाप्त ॥

२.कल्याणी-आगमन

फिर (तीसरी बार) (बोधिप्राप्ति के) आठ वर्ष बीतने पर नागराज मणि-अक्षिक ने भगवान् को पाँच सौ (५००) भिक्षुओं सहित लङ्काद्वीप आने के लिये निमन्त्रित किया ॥ ५१ ॥

यों भगवान् ऋद्धिसम्पन्न पाँच सौ भिक्षुओं को अपने साथ लेकर जेतवन से आकाश में उड़कर क्रमशः ॥ ५२ ॥

लङ्काद्वीप में कल्याणी नदी के तट पर पहुँचे । वहाँ सभी नागों ने महातल (ऊँचे स्थान) में रत्नजटित मण्डप बनाकर उसे नाना वर्ण के दिव्य वस्त्रों से सजाया ॥ ५३ ॥

उनके द्वारा वह मण्डप नानारत्नों से अलंकृत किया गया । नाना प्रकार के पुष्पों से सजाया गया, वहाँ नाना रंग की ध्वजाएँ फहरायी गयीं । यों उस मण्डप को सभी प्रकार से सुशोभित किया गया ॥ ५४ ॥

इस तरह नागों ने उस मण्डप को सर्वथा अलंकृत कर, वहाँ अच्छी बिछायत बिछा कर, भगवान् बुद्ध सहित भिक्षुसङ्घ को सादर लाकर उसमें बैठाया ॥ ५५ ॥

यों भगवान् बुद्ध, उन पाँच सौ भिक्षुओं के साथ, वहाँ विराजमान होकर इसलिये समाधिनिष्ठ हो गये कि उसके माध्यम से सभी दिशाओं में मैत्री भावना का विस्तार किया जा सके ॥ ५६ ॥

उस समय भगवान् बुद्ध ने सात बार ध्यान लगा कर देखा तो उन्हें यही ज्ञात हुआ कि यहाँ आगामी समय (भविष्य) में एक महास्तूप का निर्माण होगा ॥ ५७ ॥

इस अवसर पर नागराज मणिअक्षिक ने (भिक्षुओं के लिये) महादान का आयोजन किया । भगवान् ने उस नागराज के महादान (भोजन) को स्वीकार किया ॥ ५८ ॥

वहाँ भोजन कर, बाद में धर्मानुमोदन करते हुए भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों सहित आकाशमार्ग से दीर्घवापिचैत्य स्थान पर जा उतरे ॥ ५९ ॥

वहाँ भी लोकानुकम्पक, धर्मराज भगवान् ज्ञानसमाधि से समापन्न हुए । उस समाधि से उठकर ॥ ६० ॥

आकाशमार्ग से शिष्यों सहित महामेघवन के बोधिस्थान पर पहुँचे ॥ ६१ ॥

इस (भूमि) क्षेत्र में पूर्वकाल के भी तीन महाबोधि वृक्ष यथासमय रोपित हुए थे । अतः उस स्थान पर भी भगवान् ने समाधि लगायी ॥ ६२ ॥

तब भगवान् ने सङ्कल्प किया–"जब इन पूर्वबुद्धों की तीन महाबोधियाँ यहाँ प्रतिष्ठित हुई हैं तो मेरे द्वारा सेवित बोधि भी यहाँ प्रतिष्ठित होनी चाहिये" ॥ ६३ ॥

उस रम्य बोधि स्थान पर समाधि के बाद पुरुषश्रेष्ठ भगवान् शिष्यों सहित मेघवनोद्यान गये ॥ ६४ ॥

वहाँ भी वे समाधिनिष्ठ हुए । समाधि से उठकर उन प्रभाकर भगवान् ने वहाँ के प्रत्येक स्थान का क्रमशः यों वर्णन किया– ॥ ६५ ॥

"इस प्रथम प्रदेश में लोकनायक भगवान् ककुसन्ध (बुद्ध) इस पलंग पर विराज कर समाधिनिष्ठ हुए थे ॥ ६६ ॥

"इस द्वितीय प्रदेश (स्थान) में विराजमान रहकर पुरुषोत्तम (भगवान्) कोणागमन ने समाधि लगायी थी ॥ ६७ ॥

"इस तृतीय प्रदेश में लोकनायक (भगवान्) काश्यप ने समाधि लगायी थी ॥ ६८ ॥

"अब इस चतुर्थ प्रदेश में बैठकर मैं पुरुषश्रेष्ठ शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध भी कुछ समयतक समाधिसमापन्न हुआ हूँ" ॥ ६९ ॥

कल्याणी-आगमन-वर्णन समाप्त ॥
द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥
द्वितीय भाणवार भी समाप्त ॥

(इन कथाप्रसङ्गों का विस्तार महावंस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में भी देखें–अनु०)

तृतीय परिच्छेद

(महाराजवंशवर्णन)

प्राचीन कल्प में हुए राजाओं के जन्म-मरण का लेखा छोड़कर वर्तमान कल्प में हुए राजाओं का ही सर्वथा वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

इस सर्वथा वर्णन में– उनके जन्म, नाम, गोत्र, आयु, शासनकाल–ये सभी बातें रहेंगी, जिन का विस्तार किया जायगा । इन्हें मैं जैसे-जैसे कहूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ २ ॥

महासम्मत वंश– सर्वप्रथम कोई महासम्मत नाम का क्षत्रिय भूमि की रक्षा हेतु 'राजा' पद पर अभिषिक्त हुआ । उसने सर्वप्रथम इस पृथ्वी पर राज्य किया ॥ ३ ॥

उसके बाद उसके सात पुत्र हुए, जिनके नाम क्रमशः ये हैं– १. रोज, २. वर-रोज, ३. कल्याणक (प्रथम), ४. कल्याणक (द्वितीय), ५. उपोसथ, ६. मान्धाता एवं ७. महीश्वर । ये सातों ही चारों द्वीपों के सम्राट् थे ॥ ४ ॥

उनके बाद ये बाईस (२२) राजा हुए; जैसे– १. चर, २. उपचर, ३. चैत्य, ४. महीश्वर (द्वितीय) ॥ ५ ॥

५. मुचल, ६. महामुचल, ७. मुचलिन्द, ८. सागर, ९. सागरदेव, १०. भरत एवं ११. अङ्गीरस राजा ॥ ६ ॥

१२. रुचि, १३. महारुचि, १४. प्रताप, १५. महाप्रताप, १६. प्रबाद, १७. महाप्रवाद, १८. सुदर्शन राजा ॥ ७ ॥

१९. महासुदर्शन, २०. नेरु (प्रथम), २१. नेरु (द्वितीय), २२. अर्चिष्मान् । इन के बाद अन्य अट्ठाईस (२८) राजा भी हुए, जिन की आयु गणनातीत (असङ्ख्य) है ॥ ८ ॥

इन सब राजाओं ने उत्तम नगर कुशावती, राजगृह, एवं मिथिला में राज्य किया । इन की आयु भी गणनातीत थी ॥ ९ ॥

गणनाक्रम– (प्रसङ्गचश गणना की पद्धति बतायी जा रही है–) दश दशक (१०+१०) को एक सौ (१००) कहते है । दश सौ (१००+१०) को 'हजार' कहते है । दश हजार को 'नहुत' कहते है । दश नहुत को 'सहस्रीय' कहते है ॥ १० ॥

दश सौ हजार को 'कोटि' कहते हैं । दस कोटि को 'प्रकोटि' कहते है । इसी तरह आगे 'कोटिप्रकोटि', 'नहुत', 'निन्नहुत', 'अक्षौहिणी', 'बिन्दु' 'अर्बुद', निरर्बुद' ॥ ११ ॥

'अहह', सभी 'वृत्त' (?) 'सौगन्धिक', 'उत्पल', 'कुमुद', 'पुण्डरीक' 'पद्म' 'कथान' (१), 'कथान' (२) ॥ १२ ॥

.यो गणित (गिनती की गयी) सङ्ख्या आगे बढ़ती जाती है । बाद की सङ्ख्या तो 'असङ्ख्य' कहलाती है ॥ १३ ॥

अवशिष्ट (कपिलवस्तु का) राजवंश–उस अर्चिष्मान् राजा के एक सौ पुत्र हुए, जिन्होंने कपिलवस्तु नगरी में रहकर चक्रवर्ती साम्राज्य (महाराज्य) की स्थापना की ॥ १४ ॥

अयोध्या का राजवंश–उनमें सब से अन्तिम (पश्चिमक) राजा हुआ अरिन्दम । उसके पुत्र-प्रपौत्र सब मिलाकर साठ (६०) राजा हुए । इन्होंने श्रेष्ठ अयोध्या नगरी में रहकर अपने साम्राज्य की स्थापना की ॥ १५ ॥

वाराणसी का राजवंश–उन में अन्तिम राजा दुप्रसह सम्राट् हुआ । इसके साठ (६०) पुत्र, प्रपौत्र हुए, जिन्होंने वाराणसी नगर में रहकर साम्राज्य की स्थापना की ॥ १६ ॥

उनमें अन्तिम राजा हुआ आहितान्न । उसके चौरासी हजार (८४,०००) पुत्र-प्रपौत्र हुए । उन्होंनें कपिल (वस्तु?) में रहकर साम्राज्य की स्थापना की ॥ १७ ॥

हस्तिपुर का राजवंश– उनमें अन्तिम सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। इसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र छत्तीस हजार (३६,०००) हुए। उन्होंने हस्तिपुर में रहकर साम्राज्य की स्थापना की ॥ १८ ॥

एकचक्षुनगरी का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ कम्बलवृषभ। उसके बत्तीस (३२) पुत्र-प्रपौत्र हुए। उन्होंने एकचक्षु नगरी में रहकर अपने राज्य की स्थापना की ॥ १९ ॥

वज्रा नगरी का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ पुरन्दद। उसके अट्ठाईस (२८) पुत्र-प्रपौत्र राजा हुए। उन्होंने वज्रा नगरी में रहकर अपने साम्राज्य की स्थापना की ॥ २० ॥

मथुरा का राजवंश– उनमें भी अन्तिम क्षत्रिय राजा हुआ स्वाधीन। इसके बाईस (२२) पुत्र-पौत्रों ने मथुरा नगरी में रहकर अपना महाराज्य चलाया ॥ २१ ॥

अरिष्टपुर का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ महाबली धर्मगुप्त। जिसके अट्ठारह (१८) पुत्र-प्रपौत्र राजाओं ने अरिष्टपुर नगर में रहकर अपना राज्य चलाया ॥ २२ ॥

इन्द्रप्रस्थ का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ नरेन्द्र शिष्टि। उसके सत्तरह (१७) पुत्र-प्रपौत्र राजाओं ने इन्द्रप्रस्थ नगर में रहकर अपना राज्य स्थापित किया ॥ २३ ॥

एकचक्षुनगरी का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ महीपति ब्रह्मदेव। उसके पन्द्रह (१५) पुत्र-प्रपौत्र राजाओं ने फिर से एकचक्षु नगरी को राजधानी बनाकर राज्य-स्थापना की ॥ २४ ॥

कोसाम्बी नगरी का राजवंश– उनमें अन्तिम राजा हुआ महीपति बलदत्त। उसके चौदह (१४) पुत्र-प्रपौत्र राजाओं ने कौसम्बी नगरी में रहकर महाराज्य की ॥ २५ ॥

कर्णगुच्छनगर का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ विख्यात **भद्रदेव** । उसके सात (७) पुत्र-प्रपौत्र राजा हुए । जिन्होनें कर्णगुच्छ नगर में रहकर राज्य-सञ्चालन किया ॥ २६ ॥

रोजननगर का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ प्रसिद्ध **नरदेव** । उसके सात (७) पुत्र-प्रपौत्र राजा बने । जिन्होंने रोजननगर में रहकर अपना महान् राज्य सञ्चालित किया ॥ २७ ॥

चम्पा नगरी का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुए **महेन्द्र** । उसके बारह (१२) पुत्र-पौत्रों ने चम्पा नगरी में रहकर महान् साम्राज्य की स्थापना की ॥ २८ ॥

मिथिला का (प्रथम) राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ **नागदेव** महीपति । उन के पचीस (२५) पुत्र-पौत्रों ने मिथिला नगरी को राजधानी बनाकर अपना राजवंश चलाया ॥ २९ ॥

राजगृह का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ महाबली **बुद्धदत्त** । उसके पचीस (२५) पुत्र-पौत्रों ने श्रेष्ठ राजगृह नगर में रहकर अपने महान् साम्राज्य की स्थापना की ॥ ३० ॥

तक्षशिला का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ **दीपङ्कर** क्षत्रिय । उसके बारह (१२) पुत्र-पौत्रों ने तक्षशिला में रहकर राज्य-सञ्चालन किया ॥ ३१ ॥

कुसीनगर का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ **तालेश्वर** क्षत्रिय । उसके बारह (१२) पुत्र-पौत्रों ने उत्तम कुसीनगर में रहकर अपने राज्य का सञ्चालन किया ॥ ३२ ॥

ताम्रलिप्ति का राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ **सुदिन्न** क्षत्रिय । उसके नौ (९) पुत्र-पौत्रों ने ताम्रलिप्ति नगरी में रहकर अपने महान् साम्राज्य का सञ्चालन किया ॥ ३३ ॥

मिथिला का (द्वितीय) राजवंश—उनमें अन्तिम राजा हुआ **सागरदेव** । उस का पुत्र हुआ महान् दानपति **मखादेव** ॥ ३४ ॥

उसके चौरासी हजार पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रों ने मिथिला नामक श्रेष्ठ नगरी में रहकर अपने महान् साम्राज्य की स्थापना की ॥ ३५ ॥

उनमें अन्तिम राजा हुआ **नेमिय** । जिसकी, अपने प्रखर प्रताप के कारण, देवता भी वन्दना करते थे । वह अपनी बलिष्ठ सेना के सहारे अपना चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा । यों वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकच्छत्र अधिपति था ॥ ३६ ॥

वाराणसी का राजवंश– उस नेमिय चक्रवर्ती का पुत्र **कळारजनक** हुआ । उसका पुत्र हुआ शमकर **अशोक** । यह राजा भी मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय था ॥ ३७ ॥

उसके चौरासी हजार (८४,०००) पुत्र-प्रपौत्र हुए । इन्होंने वाराणसी नगरी को राजधानी बनाकर महान् साम्राज्य का सञ्चालन किया ॥ ३८ ॥

कपिलवस्तु का राजवंश–उनमें अन्तिम राजा हुआ महाराज **विजय** । उसका पुत्र **विजितसेन** आभिजात्य कुल की शोभा से सम्पन्न था ॥ ३९ ॥

इसी तरह (इसके बाद) **धर्मसेन**, **नागसेन**, **शमथ**, **दिसम्पति**, **रेणुजु**, **कुश**, **महाकुश**, **नवरथ**, **दशरथ** ॥ ४० ॥

राम, **बिलारथ**, **चित्रदर्शी**, **अर्थदर्शी**, **सुजात**, **ओक्कक** (इक्ष्वाकु ?), **उल्कामुख**, **निपुण** ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा, **चन्द्रमुख**, **शिविराजा**, **सञ्जय**, **वेस्सन्तर जनपति** (राजा), **जाली और सिहिवाहन** ॥ ४२ ॥

(इनमें अन्तिम) राजा हुआ **सिंहेश्वर**, जो कि धैर्यवान्, परम्परा का संरक्षक राजा था । इसके बयासी हजार (८२,०००) पुत्र-पौत्र थे ॥ ४३ ॥

इन सभी राजाओं ने कपिल (वस्तु) नगरी को राजधानी बनाकर राज्य किया इनमें अन्तिम राजा था **जयसेन** ॥ ४४ ॥

उसका पुत्र हुआ **सिंहहनु** जो आभिजात्यकुल-शोभासम्पन्न था । इस राजा सिंहहनु के पाँच पुत्र हुए जो पांचों सहोदर भाई थे ॥ ४५ ॥

१. **शुद्धोदन**, २. **धौतोदन**, ३. **शक्रोदन**, ४,**शुक्लोदन** एवं ५. **अमृतोदन** । ये पाँचों ही (पृथक-पृथक् राज्यों के) राजा हुए । इन सभी के नाम के आगे 'ओदन' उपपद लगा हुआ था ॥ ४६ ॥

राजा शुद्धोदन के ही पुत्र ये लोकनायक **सिद्धार्थ** हुए, जो राहुल को जन्म देकर बोधि-प्राप्ति के लिये राज्य छोड़कर प्रव्रजित हो गये ॥ ४७ ॥

वे सभी एक लाख चालीस हजार तीन सौ (१,४०,३००) राजा महाप्रतापी थे । ये इतने राजा (पृथ्वीपाल) हमारे बोधिसत्त्व के कुल में उत्पन्न हुए ॥ ४८ ॥

(परन्तु ये सभी समय आने पर काल (मृत्यु) के ग्रास बन गये; क्योंकि इसमें) "सभी संस्कार अनित्य हैं, उत्पत्ति एवं विनाश स्वभाव वाले है । ये (संस्कार) उत्पन्न हो कर निरुद्ध होते रहते है । इन का तो सर्वथा शान्त (व्युपशम) हो जाना ही मनुष्य के लिये परम सुख" हैं । (ऐसा धर्मवचन प्रमाण है) ॥ ४९ ॥

महाराजवंश-वर्णन समाप्त ॥

●

कतिपय राजाओं का विशेष वर्णन– शुद्धोदन नामक राजा कपिल (वस्तु) नामक नगर में राज्य करते थे । वे राजा सिंहहनु के पुत्र थे ॥ ५० ॥

उधर पाँच पर्वतों के बीच में राजगृह नगर में **बोधिस्व** नाम के राजा राज्य करते थे ॥ ५१ ॥

ये दोनों राजा परस्पर मित्र थे । और ये राजपरम्परा में आकर यथासमय इस प्रथम कल्प में राजा बने ॥ ५२ ॥

कभी आठ वर्ष की आयु में बोधिस्व (बिम्बिसार) के चित्त में पांच विचार हुए–

१. पिता मुझे अनुशासित (शिक्षित) करे;

२. मुझे ही अपना राज्य-भार स्वयं सौंपे ॥ ५३ ॥

३. मेरी राज्यसीमा में ही पुरुषश्रेष्ठ (सिद्धार्थ) बुद्धत्व पद प्राप्त करें;

४. बुद्ध बनने के बाद वे मुझे दर्शन देने के लिये सर्वप्रथम मेरे पास (राजगृह में) आवें ।

एवं ५. मेरे यहाँ (राजगृह) से ही वे जनता को अपना अमृतमय धर्मोपदेश प्रारम्भ करें ।

यों, ये पाँच सङ्कल्प राजा बिम्बसार के मन में पैदा हुए । ॥ ५४-५५ ॥

वह बिम्बिसार जन्म से पन्द्रहवें (१५) वर्ष में पिता के देहावसान के बाद राज्यसिंहासन पर बैठा । सिद्धार्थ गौतम ने उसी की राज्यसीमा (गया) में बुद्धत्व पद प्राप्त किया । अथ च, बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद राजगृह में आकर सर्वप्रथम वे उन्हीं को दर्शन देने हेतु गये ॥ ५६ ॥

फिर अपना अमृतमय धर्मोपदेश भी उन्होने सर्वप्रथम राजा (बिम्बसार) को ही सम्बोधित किया । उस समय महावीर बुद्ध जन्म से पैतीस (३५) वर्ष की आयु के थे । अर्थात् वे उस समय बिम्बिसार से पाँच वर्ष बड़े थे ॥ ५७-५८ ॥

इस राजा बिम्बिसार ने बावन (५२) वर्ष तक राज्य किया । इस समयावधि में वह भगवान् बुद्ध के साथ सैतीस (३७) वर्ष ही रह सका ॥ ५९ ॥

इसके बाद राजा अजातशत्रु ने बत्तीस (३२) वर्ष राज्य किया । यह आठ (८) वर्ष ही राज्य कर पाया था कि भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो गया ॥ ६० ॥

हाँ, इस राजा (अजातशत्रु) ने भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भी चौबीस (२४) वर्ष तक राज्य किया ॥ ६१ ॥

तृतीय परिच्छेद समाप्त ॥

तृतीय भाणवार समाप्त ॥

चतुर्थ परिच्छेद

(महाकाश्यप-संग्रह)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अवसर पर उत्तम नगर कुसिनारा में एक लाख (१,००,०००) भिक्षु एकत्र हुए ॥ १ ॥

प्रथम धर्मसङ्गीति– इस भिक्षु-समागम (सम्मेलन) में एक काश्यप नामक महास्थविर थे जो कि धर्मप्रवचन तथा श्रमणोचित गुणों में शास्ता से कुछ ही कम थे अर्थात् उस समय भिक्षुओं में इनके सदृश कोई नहीं था ॥ २ ॥

इन महास्थविर काश्यप ने (उन एक लाख भिक्षुओं में से) अच्छे योग्य पाँच सौ (५००) भिक्षुओं का चयन कर उनके साथ धर्म (त्रिपिटक) का सर्वसम्मत संग्रह (सङ्गायन–सङ्गीति) किया ॥ ३ ॥

उन्होंने यह धम्मसंग्रह, प्राणियों पर अनुकम्पा करते हुए सौगत धर्म की चिर (दीर्घकालिक) स्थिति हेतु, तीन मास में पूर्ण किया ॥ ४ ॥

प्रथम धर्मसङ्गीति का स्थान–द्वितीय वर्षावास की सम्प्राप्ति के समय, चतुर्थ (कार्तिक) मास में, सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर(विशाल मण्डप में) यह प्रथम धर्मसङ्गीति (धर्मसंग्रह) सम्पन्न हुई ॥ ५ ॥

धर्मसङ्गीति में सम्मिलित भिक्षुओं का वैशिष्ट्य– इस धर्मसङ्गीति में भाग लेने वाले सभी भिक्षु अन्य भिक्षुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ (अग्र) थे। वे सभी भगवान् के शासन में छह पारमिताओं से सम्पन्न थे ॥ ६ ॥

जैसे–वहाँ उपस्थित भिक्षुओं में महाकाश्यप धुताङ्गव्रतधारी भिक्षुओं में सर्वश्रेष्ठ थे। स्थविर आनन्द धर्म के श्रोताओं में सर्वश्रेष्ठ तथा उपालि स्थविर विनय के पण्डितों में अग्र थे ॥ ७ ॥

दिव्यदृष्टि (ऋद्धिबलप्राप्त) भिक्षुओं में स्थविर अनुरुद्ध, प्रतिभान (प्रत्युत्पन्न-मतिता) में स्थविर अङ्गीस, धर्मोपदेशकों (धर्मकथिकों) में पूर्ण (पुण्ण) स्थविर, विविध उपमाओं के सहारे धर्म का व्याख्यान करने वालों में कुमारकाश्यप श्रेष्ठ थे ॥ ८ ॥

(धर्म के) विभङ्ग-व्याख्यान में कच्चान (कात्यायन) स्थविर एवं प्रतिसंविदा (मीमांसापूर्ण ज्ञान) में कोट्ठित स्थविर अन्य सभी भिक्षुओं में श्रेष्ठ थे । इसी तरह अन्य भिक्षु भी किसी न किसी अङ्ग में सर्वश्रेष्ठ थे ॥ ९ ॥

उनसे, तथा उनके समान ही अन्य कृतकृत्य पाँच सौ (५००) साधुस्वभाव भिक्षुओं के सहयोग से वह धर्म एवं विनय का संग्रह सम्पन्न हुआ ॥ १० ॥

स्थविरवाद—उन स्थविरों द्वारा किया हुआ यह धर्मसङ्गायन 'स्थविरवाद' कहलाता है । इसमें उपालि स्थविर से विनयविषयक सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्न किये गये और आनन्द स्थविर से सुत्तापिटक विषयक प्रश्न पूछे गये थे ॥ ११ ॥

इस तरह भिक्षुओं ने इस सङ्गीति में धर्म एवं विनय का विस्तारपूर्वक संग्रह किया । फिर इस संग्रह को सभी भिक्षुओं से, जिनमें ये कुछ भिक्षु प्रमुख थे; जैसे—स्थविर महाकाश्यप एवं महान् गण (भिक्षुसमूह) वाले अनुरुद्ध ॥ १२ ॥

स्मृतिमान् उपालिस्थविर, बहुश्रुत आनन्दस्थविर, या ऐसे ही अन्य सम्मानित (अभिज्ञात) भिक्षु, जिनके गुणों की भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने श्रीमुख से यथाप्रसङ्ग प्रशंसा की थी ॥ १३ ॥

तथा जो प्रतिसंविदा प्राप्त थे, धैर्यवान् थे, छह अभिज्ञाओं से युक्त थे, ऋद्धिबल से सम्पन्न थे, जो समाधि एवं ध्यान भावना में निरन्तर मग्न रहते थे, एवं सद्धर्म के आचरण में पारङ्गत थे ॥ १४ ॥

ऐसे इन सभी भिक्षुओं ने इस नौ अङ्गों वाले धर्मसंग्रह को प्रामाणिक रूप में स्वीकार कर उसे भगवान् बुद्ध के साक्षी के रूप में धारण किया ॥ १५ ॥

और उन सबने सङ्घ के लिये घोषणा की कि धर्म और विनय के विषय में भगवान् के सम्मुख जो कुछ भी सुना गया है, या जो उनसे प्रत्यक्षतः प्रतिगृहीत है वही धर्म और विनय (हमारी दृष्टि में) भगवान् बुद्ध द्वारा प्रोक्त है, अन्य नहीं ॥ १६ ॥

यह धर्म-संग्रह करने वाले सभी भिक्षु विनय के ज्ञाता थे, पारम्परिक आगम (शास्त्र) के ज्ञाता थे, मार द्वारा अकम्प्य थे, किसी के द्वारा भयभीत नहीं किये जा सकते थे । वे धर्माचरण में शास्ता के सदृश थे तथा इस धर्म के लिये सदा गौरवमय भाव रखते थे ॥ १७ ॥

क्यों कि यह धर्म अग्र (श्रेष्ठ बुद्ध) से ग्रहण करके इन अग्रों (श्रेष्ठ स्थविरों) ने इस का संग्रह किया है, या इस धर्म के प्रवक्ता तथागत भी धर्म- प्रवचन में अग्र श्रेष्ठ थे, और स्थविर भी इस धर्म का ग्रहण करने वालों में अग्र (श्रेष्ठ) थे अतः इस (प्रथम सङ्गीति में संगृहीत) स्थविरवाद को **अग्रवाद** (प्रधानवाद) भी कहते हैं ॥ १८ ॥

रम्य सप्तपर्णी गुहा (के द्वार पर बने रम्य मण्डप) में बैठ कर इन पाँच सौ भिक्षुओं ने इस नवाङ्ग बुद्ध शासन का विभाजन (सर्वथा समीक्षण) कर संग्रह किया ॥ १९ ॥

इस बुद्ध-शासन के **नौ** (९) **अङ्ग** (परिच्छेद) ये कहलाते हैं; जैसे– १. सूत्र, २. गेय, ३. व्याकरण, ४. गाथा, ५. उदान, ६. इत्युक्तक (इतिवुत्तक) ७. जातक, ८. अद्भुत धर्म एवं ९. वेदल्ल (प्रश्नोत्तर शैली का व्याख्यान) ॥ २० ॥

इस अविनाशी (स्थायी) स्थविरवादी बुद्धप्रोक्त धर्म का उक्त सङ्गीति में विभाजन कर संयुक्तनिकाय एवं अङ्गुत्तरनिकाय को 'वर्गपञ्चाशत्क' (वग्गपण्णासक) नाम दिया गया एवं समग्र सूत्रपिटक 'आगमपिटक' कहलाया ॥ २१ ॥

इस सङ्गीति में उन सूत्रों के मर्मज्ञ स्थविरों ने बुद्धवचन में जो कुछ भी पर्यायदेशित (परम्परया उपदिष्ट) या निष्पर्यायदेशित (साक्षादुपदिष्ट) था अथवा जो कुछ भी नीतार्थ (अवास्तविकी देशना) या नेयार्थ (आभिप्रायिकी देशना) था सभी का संग्रह किया ॥ २२ ॥

अतः जब तक (अच्छे भिक्षुओं द्वारा) सद्धर्म पर आचरण किया जाता रहेगा, तब तक यह धर्मसंग्रह विलुप्त नहीं होगा । और तभी (चिर काल) तक यह शास्ता का शासन भी चलता रहेगा ॥ २३ ॥

ज्यों ही उस प्रथम सङ्गीति में भिक्षुओं के आचरणयोग्य इस धर्म और विनय का संग्रह सम्पन्न हुआ, त्यों ही यह दृढ़ अचल एवं अप्रतिवर्तनीय भूमि भी (गद्‌गद होकर) काँप उठी ॥ २४ ॥

अब, कोई भी परमतानुयायी श्रमण या ब्राह्मण आ जाय जो कितना भी बहुश्रुत क्यों न हो, कितना भी परमतखण्डन में कुशल क्यों न हो, या कितना भी सूक्ष्म विचारक (बाल की खाल निकालने वाला) क्यों न हो ॥ २५ ॥

इस सुमेरु पर्वत के सदृश अचल, सुप्रतिष्ठित बुद्धवचन को विचलित नहीं कर सकता । भले ही फिर वह मार, ब्रह्मा या इस पृथ्वी का वासी कोई भी बलवान् से बलवान् या बुद्धिमान् से बुद्धिमान् प्राणी ही क्यों न हो! ॥ २६ ॥

वह (वैसा समर्थ जन) भी इस बुद्धवचन में कोई अणुमात्र (यत्किञ्चित्) दुर्भाषित (मिथ्याप्रयुक्त) पद नहीं बता सकता । इस विशेषता के साथ उन स्थविरों ने इस धर्म एवं विनय के संग्रह को सर्वाङ्गसम्पन्न बनाया । साथ ही शास्ता की सर्वज्ञता भी प्रकट कर दी ॥ २७ ॥

उन पाँच सौ (५००) महाकाश्यप आदि प्रमुख स्थविरों ने इस अविनाशी विनय एवं धर्म का इस तरह से संग्रह किया कि यह शास्ता के सदृश तथा उनके धर्मकाय के तुल्य ही लोक में गौरव (सम्मान, पूजा) प्राप्त करेगा ॥ २८-२९ ॥

उन स्थविरों ने इस धर्म के प्रति तत्कालीन जनता के थोड़े से सन्देह का अनुमान कर के ही तत्क्षण इस धर्म को इस प्रकार से संगृहीत कर दिया कि इसमें दूसरे धर्मानुयायियों के मत का पोषक एक शब्द भी नहीं आ पाया, यों यह सारमात्र (तत्त्वमात्र) रह गया। साथ ही यह इस सद्धर्म का रक्षक (प्रहरी) भी बन गया। अतः यह स्थविरवादी धर्मसंग्रह स्थायी भी है, सहेतुक (सप्रयोजन) भी है। ॥ ३० ॥

यों, जब तक इस बुद्धशासन में जो आर्य (श्रेष्ठ) जन रहेंगे, अर्थात् वे इस धर्म का पालन करते रहेंगे, वे सभी इस प्रथम धर्मसंग्रह का समर्थन (समनुज्ञा) करते रहेंगे ॥ ३१ ॥

यह स्थविरवाद इस धर्म का मूल कारण (निदान) है, सर्वप्रथम है, आदिभूत है, पूर्वगामी (आगे चलने वाला) है, धर्म की धुरी के सदृश (भारवहन में समर्थ) है, अतः इसे आर्यजन 'अग्रवाद' कहते है ॥ ३२ ॥

यह स्थविरवाद पवित्र (विशुद्ध) है, दोषरहित है, स्थविरवादी भिक्षुओं के लिये उत्तमतया ग्राह्य है, अतः यह इस लोक में सैकड़ों हजारों वर्षों तक चिर स्थायी रहेगा ॥ ३३ ॥

महाकाश्यपद्वारा कृत धर्मसंग्रह का वर्णन समाप्त ॥

●

द्वितीय धर्मसंग्रह (धर्मसङ्गीति)

लोकनाथ (भगवान्) को परिनिर्वृत हुए उस समय सोलह (१६) वर्ष बीत चुके थे, इसी तरह राजा अजातशत्रु को राज्य करते हुए चौबीस (२४) वर्ष बीत चुके थे, तथा उदयभद्र राजा द्वारा किये जा रहे शासन के भी सोलह (१६) वर्ष बीत चुके थे ॥ ३४ ॥

उपालि स्थविर– तब महास्थविर उपालि पण्डित साठ (६०) वर्ष की आयु के हो चुके थे, जब दासक श्रामणेर ने उपालि स्थविर के पास उपसम्पदा प्राप्त की ॥ ३५ ॥

उपालि स्थविर ने (उपसम्पन्न हुए इस दासक को) उस समय भगवान् बुद्ध द्वारा कथित जितना भी धर्मवचन उपलब्ध था, वह नौ (९) अङ्गों से सम्पन्न बुद्धवचन समग्र रूप से पढ़ा दिया ॥ ३६ ॥

यों, समग्र, आदि से अन्त तक परिपूर्ण, यह सूत्रसहित नवाङ्ग बुद्धवचन, जिसकी उपालि पण्डित ने भगवान् बुद्ध से शिक्षा ली थी ॥ ३७ ॥

जिसके कारण भगवान् बुद्ध को भी, कोई प्रसङ्ग आने पर, सङ्घ के बीच में बैठे हुए कहना पड़ा था कि "विनय के जानने वाले मेरे शिष्यों में उपालि सर्वप्रमुख (सर्वश्रेष्ठ) हैं" ॥ ३८ ॥

दासक स्थविर–यों सङ्घ के बीच में भगवान् बुद्ध द्वारा भी प्रशंसाप्राप्त एवं मण्डलीश्वर उपालि स्थविर ने दासकप्रमुख एक हजार (१,०००) भिक्षुओं को तीनों पिटक (विनय,सूत्र, अभिधर्म) पढ़ाये ॥ ३९ ॥

जब उपालि पण्डित दासक को त्रिपिटक पढ़ा रहे थे, तब उस के साथ पढ़ने के लिये पाँच सौ (५००) ऐसे भिक्षु भी बैठते थे जो सभी क्षीणास्रव थे, शुद्धचित्त थे, शान्तहृदय थे, उचित बात ही बोलते थे (वाणी में गम्भीर थे) ॥ ४० ॥

इन महामण्डलीश्वर उपालि स्थविर ने भगवान् के परिनिर्वृत होने के बाद भी, तीस (३०) वर्ष तक निरन्तर भिक्षु-छात्रों को विनयपिटक पढ़ाया ॥ ४१ ॥

और इन उपालि स्थविर ने दासक को तो चौरासी हजार (८४,०००) धर्मस्कन्धों में विभक्त एवं सर्वाङ्गसम्पन्न समग्र त्रिपिटक (विस्तारपूर्वक) पढ़ाया ॥ ४२ ॥

यों, वे दासक भिक्षु उपालि स्थविर से समग्र त्रिपिटक का स्वाध्याय (वाचन) कर, सङ्घ में उपाध्याय बन गये ॥ ४३ ॥

अन्त में ये महामण्डलीश्वर उपालि स्थविर दासक को समग्र त्रिपिटक का पण्डित बनाकर (शासनपरम्परा को सुरक्षित कर) परिनिर्वृत हो गये ॥ ४४ ॥

(अजातशत्रु के बाद) राजा उदय ने सोलह वर्ष तक राज्य किया । इस उदय राजा को राज्य करते आठ ही वर्ष बीते थे कि उपालि स्थविर परिनिर्वृत हो गये ॥ ४५ ॥

सोणक स्थविर– कोई सोणक नामक सम्मानित व्यापारी अपने व्यापारिसमूह के साथ काशी जाता हुआ (मार्ग में), गिरिव्रज (राजगृह) के वेणुवन में, बुद्धधर्म में प्रव्रजित हुआ ॥ ४६ ॥

अपने गण (भिक्षुसमूह) के प्रधान दासक स्थविर मगध प्रदेश के गिरिव्रज प्रान्त में, सैंतीस (३७) वर्ष की (भिक्षु-) आयु में, चारिका कर रहे थे उसी समय उन्होंने सोणक को प्रव्रज्या-दीक्षा दी ॥ ४७ ॥

उस समय वे दासक स्थविर पैतालीस (४५) के हुए थे, राजा नागदास (राजगृह) को राज्य करते दश (१०) वर्ष हुए थे, तथा (मधुरा के राजा) पाण्डुराज को राज्य करते बीस (२०) वर्ष हुए थे ॥ ४८ ॥

उसी समय इन सोणक ने दासक स्थविर से प्रव्रज्या दीक्षा ली। फिर दासक स्थविर ने सोणक स्थविर को भी नवाङ्ग बुद्धवचन का अध्यापन किया ॥ ५९ ॥

दासक स्थविर ने जैसा बुद्धवचन अपने उपाध्याय (उपालि महास्थाविर) से पढा, वह सब उसी तरह उन्होंने अपने शिष्य सोणक को भी पढा दिया ॥ ५० ॥

इस तरह दासक स्थविर ने उन सोणक स्थाविर को विनय का प्रामाणिक विद्वान् बनाकर चौंसठ (६४) वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया । उस समय सोणक स्थविर चालीस (४०) वर्ष के ही थे ॥ ५१ ॥

कालाशोक को राज्य करते हुए जब दश वर्ष में आठ मास अवशिष्ट थे उस समय सोणक स्थविर सत्तरह (१७) वर्ष की आयु में ही प्रगुणक (=ज्ञानसम्पन्न) हो चुके थे ॥ ५२ ॥

सिग्गव एवं चण्डवज्जी–और, जब उस राजा को राज्य करते हुए एकादश (११) वर्ष पूर्ण होने में छह मास अवशिष्ट थे, तब ये सोणक स्थविर गणपुङ्गव (एक भिक्षुसमूह के प्रमुख, मण्डलीश्वर) भी बन चुके थे । और उन्होंने उस समय सिग्गव एवं चण्डवज्जी को उपसम्पदा दी ॥ ५३ ॥

सङ्घभेद–(इसी राजा कालाशोक के शासन के समय) जब कि भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुए सौ (१००) वर्ष हो चुके थे इन स्थविरवादी भिक्षुओं में महान् भेद (फूट) पड़ गया । उस समय वैशाली वज्जिपुत्तक भिक्षु इन दश बातों का समर्थन करने लगे ॥ ५४ ॥

जैसे–१. सींग में लवण (नमक) रख कर ले जाना; २. मध्याह्नोत्तर, सूर्य का आकाश में दो अङ्गुल आगे बढ जाने पर भी, भोजन कर लेना; ३. मध्याह्न के बाद ग्रामान्तर में जाकर पुनः भोजन करना; ४. एक ही सीमा में रहने वाले भिक्षुओं का अपने अपने आवास में पृथक् उपोसथागार बनवाना; ५. बाद में आने वाले भिक्षुओं की स्वीकृति की प्रत्याशा में शास्त्राननुमत अल्पमत भिक्षुओं द्वारा पहले ही उपोसथ कर लेना; ६. विनय के आदेश से बढकर गुरु के वचन को प्रमाण मानना; ७.भोजनकाल के बाद भी, दूध-दही के बीच की अवस्था वाले दूध का पान । ८. मद्यभाव को अप्राप्त (विना खिंची) सुरा का पान । ९. विना किनारी के आसन का उपयोग एवं १०. रजत या सुवर्ण का परिग्रह । ये लोग इन बातों का अन्य भिक्षुओं में भी प्रचार करने लगे । उनका यह सब कृत्य धर्म से विमुख था, विनय के विरुद्ध था, धर्म से निष्कासन के योग्य था ॥ ५५-५६ ॥

वे भिक्षु अपने इस आचरण से धर्म और अनुशासन में भेद (फूट) डालते हुए बुद्ध-शासन से विरुद्ध चलने लगे । तब वहाँ धर्मानुयायी भिक्षुओं ने उन धर्मविरोधी भिक्षुओं को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया ॥ ५७ ॥

इस शुभ कृत्य के लिये, उस समय बारह लाख (१२,००,०००) भिक्षु आठ (८) भिक्षु-प्रमुख स्थविरों के साथ एकत्र हुए ॥ ५८ ॥

ये सभी स्थविर धर्म के आचरण एवं प्रवचन में शास्ता के समान, महान् आध्यात्मिक बल से युक्त, किसी के भी प्रभाव से नियन्त्रित होने में अशक्य तथा अपनी अपनी समर्थक विशाल भिक्षुमण्डलियों वाले थे । जिनके नाम ये हैं– १. सर्वकामी, २. साळह, ३. रेवत, ४. खुज्जसोभित ॥ ५९ ॥

५. वासभगामी, ६. सुमन, ७. साणवासी सम्भूत एवं ८. यश काकण्डकपुत्र जो भगवान् बुद्ध द्वारा भी प्रशंसाप्राप्त थे ॥ ६० ॥

ये सभी भिक्षु उन पापिभिक्षुओं पर निग्रहहेतु वैशाली में एकत्र हुए । इन उपर्युक्त विशिष्ट भिक्षुओं में दो भिक्षु–वासभगामी एवं सुमन भगवान् के साक्षात् शिष्य अनुरुद्ध के श्रावक (शिष्य) थे ॥ ६१ ॥

और अवशिष्ट छह स्थविर भिक्षु स्थविर आनन्द के शिष्य थे । इन सभी अहोभाग्य भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध के साक्षात् दर्शन किये थे । ये सात सौ (७००) भिक्षु वैशाली में एकत्र हुए ॥ ६२ ॥

इन सभी भिक्षुओं ने धर्म की अभ्युन्नति के लिये बुद्धानुमत विनय के ही पक्ष का समर्थन किया; क्योंकि ये सभी भिक्षु धर्माचरण के कारण निर्मलदृष्टि (विशुद्धज्ञान) थे एवं समाधि में भी परिनिष्ठित थे ॥ ६३ ॥

इन्हों ने अपना सांसारिक भार अपने कन्धों से उतार फेंका था, ये सांसारिक (पुत्र-पौत्रादि) बन्धनों से मुक्त हो चुके थे । ये सभी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए ॥ ६४ ॥

उस समय शिशुनाग का पुत्र राजा कालाशाक पाटलिपुत्र नगर में राज्य कर रहा था । (पहले उसके विरुद्ध होने पर भी बाद में) इन आठों ऋद्धिबलसम्पन्न भिक्षुओं ने उसको भी अपने पक्ष में कर लिया ॥ ६५ ॥

इन्होंने उन, पापी भिक्षुओं द्वारा समर्थित, पूर्वोक्त दश बातों का निराकरण कर, साथ ही उन पापी भिक्षुओं का भी दमन कर, सङ्घ से पापाचरण को पूर्णतः समाप्त कर दिया ॥ ६६ ॥

फिर इन आठों समर्थ भिक्षुओं ने स्थविरवाद के पुनः दृढ समर्थन हेतु, उन लाखों भिक्षुओं में से अच्छे-अच्छे सात सौ (७००) योग्य भिक्षुओं को चुनकर, यह (द्वितीय) धर्मसङ्गीति सम्पन्न की ॥ ६७ ॥

यह द्वितीय धर्मसङ्गीति श्रेष्ठ नगरी वैशाली की कूटागारशाला में आठ मास में निष्पन्न हुई ॥ ६८ ॥

द्वितीय धर्मसङ्गीति का वर्णन समाप्त ॥

●

आचार्यवंश में भेद (विभाजन)

इन स्थविरों द्वारा उन वज्जिपुत्रक पापभिक्षुओं एवं उनके अन्य समर्थक धर्मविरोधी अनेक भिक्षुओं को सङ्घ से निष्कासित कर दिया गया ॥ ६९ ॥

(उन निष्कासित) दश हजार भिक्षुओं की उपस्थिति में एक अन्य धर्मसङ्गीति सम्पन्न हुई, अतः यह 'महासङ्गीति' कहलायी ॥ ७० ॥

महासङ्गीति– इन महासङ्गीति-कर्ता भिक्षुओं ने स्थविरवादी शासन को विलोम (उलटा) कर दिया और स्थविरवादियों द्वारा किये गये मूल संग्रह को उलट कर उसके विपरीत अपना अन्य धर्मसंग्रह निर्धारित कर लिया ॥ ७१ ॥

उन महासङ्गीतिकार भिक्षुओं ने पहले के भिक्षुओं द्वारा अन्य प्रकरण में संगृहीत पाठ को अन्य संग्रह में संगृहीत कर दिया । यों पूर्व स्थापित धर्म और विनय को विभक्त कर, विनय एवं पाँच निकायों में ॥ ७२ ॥

पर्यायदेशित एवं निष्पर्यायदेशित पाठ को, इसी तरह नीतार्थ एवं नेयार्थ पाठ को, उन महासङ्गीतिकार भिक्षुओं ने, विना जाने समझे ॥ ७३ ॥

किसी अन्य आशय से कथित बुद्धवचन को अन्य आशय के बोधक बुद्धवचन से सम्पृक्त कर दिया । अन्य अन्य तरह से व्याख्याएँ कर के उस बुद्धवचन के ग्राह्य अर्थ को ही विनष्ट कर दिया ॥ ७४ ॥

उन्होंने गम्भीर सूत्र एवं विनय के विशिष्ट कुछ अंशों को छोड़ कर उन के स्थान पर विरुद्ध (प्रतिकूल) पाठ स्थान स्थान पर रख दिया ॥ ७५ ॥

महासङ्गीतिकारकों का भिन्न त्रिपिटक– इसी तरह उन्होंने परिवार-ग्रन्थ के अर्थोद्धार में, छह ग्रन्थों के अभिधर्मपिटक में, पटिसम्भिदाभग्ग में, दोनों निद्देसों में, कुछ जातकों में कुछ पाठ छोड़ कर उसके स्थान पर दूसरे ही पाठ रख दिये ॥ ७६ ॥

इसी तरह सङ्घ में प्रतिदिन व्यवहार में आने वाले नामों का, चिह्नों का, परिष्कारों का, अवश्यपालनीय धर्मों का प्रकृतिभाव (पूर्वनिर्धारित रूप) हटा कर अन्य ही रूप बना दिया ॥ ७७ ॥

महासङ्गीतिकारकों में भेद– बाद में, इन सर्वप्रथम सङ्घ से भिन्न हुए महासङ्गीतिकारकों (महासाङ्घिकों) का अनुकरण करते हुए ऐसे ही बहुत से अन्य भिक्षुसमूहों ने भी अपना अपना पृथक् मत (वाद) स्थापित कर लिया ॥ ७८ ॥

फिर उससे आगे चलकर, कुछ काल बाद, इन महासङ्गीतिकारकों में भी दो भेद हो गये । इन में पृथक् होने वाले भिक्षु पहले **गोकुलिक** और दूसरे **'एकव्यावहारिक'** कहलाये ॥ ७९ ॥

आगे चलकर इन गोकुलिक भिक्षुओं में एक भेद और हुआ । जिसका नाम पड़ा **'बाहुश्रुतिक'**; (बाहुलिक) ॥ ८० ॥

फिर इन महासङ्गीतिकारकों से मतभेद होने पर कुछ भिक्षु **'चैत्यवादी'** कहलाये । इस तरह ये महासङ्गीतिकारक भिक्षु ही इन उपर्युक्त पाँच भिन्न नामों से परस्पर पृथक् हो गये ॥ ८१ ॥

इस तरह मूल स्थविरवाद से पृथक् हुए भिक्षुओं ने धर्मवचनों का स्वसम्मत पृथक् अर्थ ख्यापित कर दिया, और सर्वसम्मत मूलसङ्ग्रह को छोड़ कर इन्होंने एक-देशी (एक पक्ष का) पृथक् पृथक् संग्रह बना लिया ॥ ८२ ॥

इन्होंने अपने लिये, सङ्घ के मूल नामों, चिह्नों, परिष्कारों में, यहाँ तक कि अवश्य पालनीय भिक्षुनियमों में भी, उन का प्रकृतिभाव (वास्तविकता) हटाकर अन्य अन्य (स्वाभीष्ट) परिवर्तन कर लिये ॥ ८३ ॥

स्थविरवाद में भी विभाजन– समय आने पर, उस विशुद्ध (मूल) स्थविरवाद में पुनः विभाजन हुआ । इसमें दो शाखाएँ पृथक् हुईं । एक का नाम हुआ– 'महिंसासक', और दूसरी का नाम हुआ–'वज्जिपुत्तक' ॥ ८४ ॥

वज्जिपुत्तकों में भी विभाजन– आगे चलकर इन वज्जिपुत्तकों में भी चार भेद हो गये । उनके नाम हैं– १. 'धर्मोत्तरिक', २. 'भद्रयानिक', ३. 'छन्नागारिक' एवं ४. 'सम्मितीय' ॥ ८५ ॥

महिंसासकों में विभाजन– फिर समय पाकर, इन महिंसासक भिक्षुओं में भी दो भेद हो गये । इनमें पहला कहलाया–'सर्वास्तिवाद', और दूसरा 'धर्मगुप्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ८६ ॥

सर्वास्तिवाद का विभाजन– यों क्रमशः सर्वास्तिवाद में भी चार भेद हो गये-१. 'सर्वास्तिवादी', २. 'काश्यपीय', ३. 'सांक्रान्तिक' एवं ४. सूत्रवादी । इन में भी उत्तर काल में छोटे-छोटे अन्य भेद होते चले गये ॥ ८७ ॥

यों मूल स्थविरवाद से ही आगे समय-समय पर एकादश (११) भेद हो गये । इन्हें बुद्धोक्त धर्मवचनों का स्वसम्मत... पूर्ववत् (गाथा-सं. ८२, ८३ की तरह) परिवर्तन कर लिये ॥ ८८-८९ ॥

यों, एक समय के अभिन्न (एकत्र=समग्र) वाद (स्थविरवाद) में से समय-समय पर पृथक् होते हुए, अन्त में सत्तरह (१७) वाद भिन्न हो ही गये । यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे किसी विशाल वटवृक्ष में से यथासमय अट्ठारह शाखाएँ पृथक् रूप से निकल आयी हों फिर भी वह समग्र रूप से एक वटवृक्ष ही कहलाता हो । इसी तरह उस विशाल स्थविरवाद से ये सत्तरह (१७) वाद पृथक् हुए । फिर भी वह समग्ररूप से भिक्षुसङ्घ ही कहलाया ॥ ९० ॥

क्योंकि वे सभी अट्ठारह (१८) मतवादी भिक्षु प्रमाण तो बुद्धवचन को ही मानते थे। वे सङ्घ में वाद के आरोपक भिक्षु लोकव्यवहार में उसी तरह लगते हैं जैसे किसी वृक्ष में (जैसे गुलाब में) स्थान स्थान पर काँटे हो। (क्या काँटों के रहने से गुलाब के फूलों की महत्ता कम हो जाती है!) ॥ ९१ ॥

(संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि) भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, पहले के सौ (१००) वर्षों में सङ्घ में कोई भिन्न (पृथक्) वाद नहीं था। परन्तु इस से आगे के सौ (१००) वर्षों में उस एक (समग्र) ही भिक्षुसङ्घ में सत्तरह (१७) भेद (वाद) उत्पन्न हो गये ॥ ९२ ॥

आगे चलकर (जम्बुद्वीप के) इसी भिक्षुसङ्घ में—१. हैमवतिक, २. राजगृहिक, ३. सिद्धार्थक, ४. पूर्वशैलीय, ५. अपरशैलीय एवं ६. बाजिरीय-ये भेद भी हो गये ॥ ९३ ॥

आचार्यवंशभेद-वर्णन समाप्त ॥

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ॥

(इस चतुर्थ परिच्छेद में वर्णित (१) प्रथम धर्मसंगीति के विषय में महावंस का तृतीय परिच्छेद, (२) द्वितीय धर्मसङ्गीति के विषय में महावंस का चतुर्थ परिच्छेद एवं (३) महासङ्गीति तथा (४) आचार्यवंश-भेद के लिये महावंस का पञ्चम परिच्छेद भी देखें। —अनु०)

पञ्चम परिच्छेद

(विनय-परम्परा)

मोग्गलिपुत्त तिष्य का प्रादुर्भाव– भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद प्रथम धर्मसङ्गीति हुई। उसके सौ (१००) वर्ष बाद द्वितीय धर्मसङ्गीति हुई। इस द्वितीय धर्मसङ्गीति के बाद, आगे अट्ठारह वर्ष अधिक एक सौ (११८) वर्ष बीतने पर वे अद्वितीय, अनुपम भिक्षु इस लोक में अवतरित होंगे ॥ १ ॥

ये ब्रह्मलोक से च्युत होकर, मनुष्यलोक में प्रादुर्भूत होंगे। ये जाति (जन्म) से ब्राह्मण तथा सभी मन्त्रों के ज्ञाता होंगे ॥ २ ॥

इनका नाम होगा तिष्य। तथा ये मोग्गलिपुत्र भी कहलायेंगे। सिङ्गव एवं चण्डवज्जी नामके ये दो भिक्षु इस बालक को प्रव्रज्या देंगे ॥ ३ ॥

तब यह तिष्य, प्रव्रजित होकर उस ब्रह्मचर्य (बुद्धधर्म) का अन्तिम सीमा (अर्हत्त्व-प्राप्ति) तक पालन करेगा। और अन्य ब्राह्मण-(तीर्थिक)-वादों का खण्डन करता हुआ शासन (स्थविरवाद) में सिथरता लायगा ॥ ४ ॥

महाराज अशोक– उस समय, पाटलिपुत्र नगर का 'अशोक' नामक राजा होगा, जो धर्मपूर्वक राज्य का शासन करेगा और अपने शुभकृत्यों से राष्ट्र की उन्नति करेगा ॥ ५ ॥

तिष्य की प्रवज्या– तिष्य ब्रह्मलोक से च्युत होकर इस मनुष्यलोक में अवतीर्ण हुए। वे भले ही आयु से सोलह (१६) वर्ष के ही थे, परन्तु वे सभी मन्त्रों (बुद्धवचनों) के ज्ञाता हो चुके थे ॥ ६ ॥

(उन्होंने सिग्गव स्थविर से कहा–) "मैं कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ, कृपया उनका उत्तर देने का कष्ट करें"। स्थविर क्योंकि १. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. निघण्टु एवं ५. इतिहास, जो कि पञ्चम वेद कहलाता है–सभी कुछ पढ़ चुके थे, अतः वे विशारद (शास्त्रों में कुशल) थे ॥ ७ ॥

स्थविर ने उस दारक तिष्य को प्रश्न पूछने की अनुमति दे दी । तिष्य द्वारा किये प्रश्नों की गम्भीरता समझ कर सिग्गव स्थविर समझ गये कि बालक शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न है । तब उन्होंने कहा– ॥ ८ ॥

"माणव! मैं भी तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ । यदि तुम कुशल (चतुर) हो तो मेरे इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दो" ॥ ९ ॥

तब सिग्गव स्थविर द्वारा प्रश्न-कथन के साथ ही तिष्य दारक के मुख से निकल गया--"यह मन्त्र तो मैंने कभी-कहीं देखा-सुना ही नहीं । मैं इस मन्त्र को ग्रहण करना चाहता हूँ । भले ही इसके लिये मुझे आपसे प्रव्रज्या-दीक्षा ही क्यों न लेनी पड़े" ॥ १० ॥

गृहस्थ में सङ्कट (प्रपञ्च) देखकर, वह माणव गृहस्थ छोड़कर बेघर होकर, शान्तिभाव प्राप्त करने हेतु बुद्ध धर्म में प्रव्रजित हो गया ॥ ११ ॥

इस गम्भीरप्रज्ञ तिष्य को बहुश्रुत चण्डवज्जी स्थविर ने नवाङ्ग शासन (बुद्धवचन) का पूर्ण पारायण कराया ॥ १२ ॥

एवं सिग्गव स्थविर ने उस माणव को गार्हस्थ्य से निकाल कर प्रव्रज्या की दीक्षा दी । और बहुश्रुत चण्डवज्जी स्थविर ने उस सुशिक्षित मन्त्रधर को नवाङ्ग बुद्धवचन की पूर्ण शिक्षा दी । फिर वे दोनों स्थविर परिनिर्वृत हुए ॥ १३ ॥

चन्द्रगुप्त सम्राट् के दो वर्ष शासन करने के बाद सिग्गव स्थविर चौंसठ (६४) वर्ष की आयु के थे । तब प्रकुण्डक राजा के अट्ठावन (५८) वर्ष राज्य करने के बाद, मोग्गलिपुत्र तिष्य ने सिग्गव स्थविर से उपसम्पदा प्राप्त की थी ॥ १४ ॥

इन तिष्य मोग्गलिपुत्र ने चण्डवज्जी स्थविर से समग्र विनय का अध्ययन कर सांसारिक भ्रमजाल से मुक्ति प्राप्त की थी ॥ १५ ॥

सिग्गव एवं चण्डवज्जी– दोनों स्थविरों ने महान् तेजस्वी मोग्गलिपुत्र तिष्य को समग्र त्रिपिटक दो बार पूर्ण रूप से पढ़ाया था ॥ १६ ॥

यों वे ज्ञानी सिग्गव स्थविर उन महान् तेजस्वी मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर को सङ्घ में विनय का प्रमुख बनाकर छिहत्तर (७६) वर्ष की आयु में परिनिर्वृत हुए ॥ १७ ॥

जबकि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चौबीस (२४) वर्ष राज्य किया था। उस के शासन के चौदहवें (१४) वर्ष में सिग्गव का परिनिर्वाण हुआ था ॥ १८ ॥

ये स्थविर आरण्यक धुताङ्ग के अभ्यासी थे। अल्पेच्छ (सन्तोषी) एवं एकान्त-वासप्रिय थे। ये अत्यन्त नम्र, इन्द्रियनिग्रही एवं सद्धर्म के पूर्ण ज्ञाता थे ॥ १९ ॥

ये रम्य एवं एकान्त शयनासन से युक्त घोर (बीहड) जङ्गल में अकेले, किसी दूसरे के साथ नहीं, रहना ही स्वीकार करते थे; जैसे कोई सिंह किसी पर्वत की गुफा में एकाकी रहा करता है ॥ २० ॥

धर्माशोक सम्राट् के छह वर्ष राज्य-शासनकाल में मोग्गलिपुत्र तिष्य छयासठ (६६) वर्ष की आयु के हो गये थे। इधर (लङ्का में) मुटशिव राजा को राज्य करते हुए अड़तालीस (४८) वर्ष व्यतीत हुए थे ॥ २१ ॥

उस समय महेन्द्र मोग्गलिपुत्र तिष्य से उपसम्पन्न हुए थे।

विनयपरम्परा– उपालि स्थविर ने समग्र विनय साक्षात् भगवान् बुद्ध से ही उद्गृहीत किया था ॥ २२ ॥

इसके बाद उपालि स्थविर के शिष्य दासक ने यह विनय अपने उपाध्याय उपालि स्थविर से अधिगृहीत किया ॥ २३ ॥

दासक स्थविर ने यह विनय सोणक स्थविर को भी उतना ही सब कुछ उद्गृहीत कराया जो उन्होंने अपने उपाध्याय से पढ़ा था ॥ २४ ॥

सोणक स्थविर भी बुद्धिमान् थे, धर्म एवं विनय के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने अपने शिष्य सिग्गव को समग्र विनय आनुपूर्वी पढ़ाया था ॥ २५ ॥

सिग्गव एवं चण्डवज्जी–ये दोनों इन्हीं सोणक स्थविर के सहविहारी (शिष्य) थे। इन दोनों ही शिष्यों को सोणक स्थविर ने विनय का वाचन (स्वाध्याय) कराया था ॥ २६ ॥

तिष्य मोग्गलिपुत्र ने इन्हीं चण्डवज्जी स्थविर से विनय का अध्ययन किया था। इस अध्ययन के बाद ही उनका चित्त भवबन्धन से मुक्त हुआ था ॥ २७ ॥

तथा इन मोग्गलिपुत्र तिष्य ने अपने शिष्य महेन्द्र को समग्र स्थविरवादी विनय का अध्ययन कराया था ॥ २८ ॥

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के बाद भी, महान् तेजस्वी उपालि स्थविर ने निरन्तर तीस (३०) वर्ष तक भिक्षुओं को विनय का स्वाध्याय कराया ॥ २९ ॥

एतदनन्तर, वे (उपालि स्थविर) अपने शिष्य दासक स्थविर को अपना स्थानापन्न बनाकर परिनिर्वृत हुए ॥ ३० ॥

दासक स्थविर ने अपने शिष्य सोणक स्थविर को समग्र (आनुपूर्वी) विनय का अध्ययन कराकर चौसठ (६४) वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

सोणक स्थविर ने, जो कि छह अभिज्ञाओं से सम्पन्न हो चुके थे, एक श्रेष्ठ वंशज सिग्गव को अपना शिष्य बनाकर उसे सङ्घ में 'विनय-प्रमुख' के पद पर आसीन कर छयासठ (६६) वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

और इन ज्ञानी सिग्गव स्थविर ने मोग्गलिपुत्त तिष्य तरुण को अपना शिष्य बनाकर गुरुमुख से प्राप्त समग्र विनय का स्वाध्याय कराया । तब उन (सिग्गव) ने अपने स्थान पर तिष्य को सङ्घ में 'विनय-प्रधान' पद पर प्रतिष्ठित कर छिहत्तर (७६) वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

इसी तरह इन मोग्गलिपुत्त तिष्य ने भी अपने शिष्य महेन्द्र को विनय का स्वाध्याय कराकर, उसे 'विनय-प्रमुख' पद पर अधिष्ठित कर छयासी (८६) वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

यों, चौहत्तर (७४) वर्ष तक उपालि, चौसठ (६४) वर्ष तक दासक, छयासठ (६६) वर्ष तक सोणक, छिहत्तर (७६) वर्ष तक सिग्गव, एवं अस्सी (८०) वर्ष तक मोग्गलिपुत्र तिष्य भिक्षुसङ्घ में उपसम्पन्न रहे ॥ ३५ ॥

इनमें उपालि स्थविर अपने पूर्ण समय तक सङ्घ में विनय के प्रधान रहे । इनके बाद दासक स्थविर पचास (५०) वर्ष तक, सोणक स्थविर चवालीस (४४) वर्ष तक 'विनयप्रधान' रहे ॥ ३६ ॥

पचपन (५५) वर्ष तक सिग्गव, एवं अड़सठ (६८) वर्ष तक मोग्गलिपुत्र तिष्य 'विनयप्रमुख' रहे ॥ ३७ ॥

(राजा अजातशत्रु के बाद) राजा उदय ने सोलह (१६) वर्ष तक राज्य किया। इस राजा उदय के शासन के छठे वर्ष में उपालि स्थविर परिनिर्वृत हुए ॥ ३७ ॥

फिर शिशुनाग ने राजा बनकर दस (१०) वर्ष तक राज्य किया ॥ ३८ ॥

इस शिशुनाग के शासनकाल में आठवें वर्ष दासक स्थविर परिनिर्वृत हुए । शिशुनाग के देहावसान के बाद, वे दश भाई क्रमशः राजा बने ॥ ३९ ॥

इन्होंने सब मिलाकर क्रमशः बाईस (२२) वर्ष तक राज्य किया । इनके राज्यकाल में छठे वर्ष सोणक स्थविर परिनिर्वृत हुए ॥ ४० ॥

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चौबीस (२४) वर्ष राज्य किया । इसके शासन के चौदहवें वर्ष में सिग्गव स्थविर परिनिर्वृत हुए ॥ ४१ ॥

राजा बिन्दुसार के पुत्र हुए महान् यशस्वी धर्माशोक । इन्होंने सैंतीस (३७) वर्ष तक राज्य किया ॥ ४२ ॥

इस अशोक के राज्यकाल में छब्बीसवें वर्ष मोग्गलिपुत्र तिष्य, शासन को समृद्ध करते हुए, आयु:समाप्ति के कारण परिनिवृत हो गये ॥ ४३ ॥

विद्वान् महामण्डलीश्वर उपालि स्थविर चौहत्तरवें (७४) वर्ष में अपने शिष्य पण्डित दासक स्थविर को ॥ ४४ ॥

'विनयप्रमुख' पद पर प्रतिष्ठित कर परिनिर्वृत हुए । दासक स्थविर ने अपने शिष्य सोणक स्थविर को, आनुपूर्वी विनय का अध्ययन कराकर सङ्घ का 'विनय-प्रधान' बनाया ॥ ४५ ॥

तथा ये चौसठवें (६४) वर्ष में परिनिर्वृत हो गये । इसी प्रकार षडभिज्ञ सोणक स्थविर ने श्रेष्ठ वंशज अपने शिष्य सिग्गव को ॥ ४६ ॥

विनयप्रमुख पद पर प्रतिष्ठित कर साठवें (६०) वर्ष परिनिर्वाण प्राप्त किया। तथा इन ज्ञानी सिग्गव स्थविर ने अपने तरुण शिष्य मोग्गलिपुत्र तिष्य को विनयप्रमुख पद पर प्रतिष्ठित कर छियत्तर (७६) वर्ष में परिनिर्वाण प्राप्त किया ॥ ४७ ॥

इसी तरह, ये मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर भी अपने सहविहारी (शिष्य) महेन्द्र को सङ्घ के विनयप्रमुख पद पर प्रतिष्ठित कर अस्सी (८०) वर्ष की आयु में परिनिर्वृत हो गये ॥ ४८ ॥

विनयपरम्परा-वर्णन समाप्त ॥
पञ्चम परिच्छेद समाप्त ॥
पञ्चम भाणवार भी समाप्त ॥

(इस कथा का अधिक विस्तार जानने के लिये 'महावंस' का पञ्चम परिच्छेद भी देखें–अनु. ।:)

षष्ठ परिच्छेद

(सम्राट् धर्माशोक)

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के दो सौ अट्ठारह (२१८) वर्ष बाद, प्रियदर्शी अशोक राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त (आरूढ) हुए ॥ १ ॥

अशोक की विशिष्ट शक्तियाँ– इस अशोक प्रियदर्शी के राज्याभिषिक्त होते ही, सभी राज्यशक्तियाँ इसको अनायास उपलब्ध हो गयीं । तथा इसका पुण्यप्रताप समग्र पृथ्वी पर ऊपर-नीचे एक एक योजन ꣳ फैल गया ॥ २ ॥

समग्र जम्बुद्वीप पर इसके सैनिक शासन का नियन्त्रण हो जाने के बाद, हिमालय के शिखर पर स्थित अनवतप्त दह (मानसरोवर) से ॥ ३ ॥

कुछ देवता लोग सोलह (१६) कुम्भी जल, जिसमें सभी जीवनदायी ओषधियों का रस सम्पृक्त रहता था, नित्य (प्रतिदिन) लाने लगे ॥ ४ ॥

इसी तरह अन्य देवता लोग पर्वतस्थित, सुगन्धित, मृदु, श्लक्ष्ण (चिकना), मधुररससम्पन्न, रसयुक्त, देखने में सुन्दर, नागलता का दन्तकाष्ठ (दतुअन) नित्य प्रति लाने लगे ॥ ५ ॥

इसी तरह, अन्य महाप्राणों द्वारा लाया गया औषधमय, सुगन्धित, पर्वतों में उत्पन्न, मृदु, स्निग्ध, रसयुक्त, आमलक (आँवले) देवतागण उसके प्रासाद में प्रतिदिन पहुँचाते थे ॥ ६ ॥

इसी तरह, देवतालोग दिव्य पान एवं दिव्य खादद्य-भोज्य पदार्थ, जो कि रसमय एवं दिव्य सुगन्धयुक्त होता था, प्रतिदिन उसके प्रासाद में लाते थे ॥ ७ ॥

इसी प्रकार, छद्दन्तदह से पाँच रङ्गों वाला परिधान (पहनने का) वस्त्र भी देवतालोग प्रतिदिन उसके यहाँ पहुँचाते थे ॥ ८ ॥

तथा स्नान करते समय शिर तथा शरीर में लगाने का गन्धमय चूर्ण और उबटन (अनुविलेपन); एवं पहनने के लिये कोमल फूलों से बने अत एव सूत्रविहीन वस्त्र भी ये देवता लोग उस राजा के लिये प्रतिदिन लाते थे ॥ ९ ॥

इसी तरह, नागराजा नागलोक से उसके लिये महार्घ अञ्जन अत्यधिक मात्रा में पहुँचाते थे ॥ १० ॥

इसी प्रकार, कुछ देवताओं का दैनिक कृत्य था– ईंख की पौरियाँ, सुपारी, एवं पीले रंग का हाथ पोंछने का वस्त्र (रुमाल) उसके यहाँ प्रतिदिन पहुँचाना ॥ ११ ॥

इसी तरह उसके भोजनालय के लिये, सूए (शुक पक्षी) नौ हजार (९०००) वाह (मापविशेष) का शालिधान (चावल) प्रतिदिन एकत्र करते थे जो कि तुष और कण (खुद्दी) से रहित होता था, और चूहों (उन्दुर=मूषक) द्वारा साफ किया जाता था । मधुमक्खियाँ उसके लिये प्रतिदिन मधु का संग्रह करती थीं । एवं भालू (रींछ) उसके कारखानों में हथौड़ा चलाने का कार्य करते थे ॥ १२ ॥

इसी तरह मधुर स्वर वाले एवं अच्छी जाति के कोयल पक्षी (करवीक) उस राजा के पुण्य प्रभाव से मधुर स्वर वाले मनुष्यों की वाणी में माङ्गलिक शब्द बोलते-सुनाते रहते थे ॥ १३ ॥

इसी तरह, कल्पपर्यन्त आयुवाला, अतएव अतीत काल के चार बुद्धों का साक्षात् दर्शन किया हुआ महानाग भी सोने जंजीर (शृङ्खला) से बन्धा हुआ, अशोक के पुण्य प्रताप से कभी वहाँ (उसके प्रासाद में) आया ॥ १४ ॥

उस महायशस्वी, प्रियदर्शी एवं सुदर्शन राजा ने उस महानाग की लाल माला-पुष्पों से पूजा की । उसे उस पूजा का फल यह मिला कि उसका भोजनगृह सदा अक्षय (अटूट) रहने लगा ॥ १५ ॥

अशोक की सन्ततियाँ– चन्द्रगुप्त के नाती (पौत्र) एवं बिन्दुसार के पुत्र अशोक जब राजपुत्र ही थे, तब पिता ने उनको उज्जयिनी नगरी का शासक बना दिया था ॥ १६ ॥

क्रमशः वहाँ जाते हुए इस अशोक ने (मार्ग में) विदिशा नगरी में विश्राम (पड़ाव) किया । उसी समय वहाँ के एक प्रमुख श्रेष्ठी की 'देवी' नाम की लड़की से उसका प्रेम हो गया । उससे संवास होने पर उसको यथासमय दो सन्तानें हुई ॥ १७ ॥

एक पुत्र, जिसका नाम हुआ, **महेन्द्र** एवं एक पुत्री, जिसका नाम हुआ **सङ्घमित्रा** । उन दोनों ने ही अन्त में (यथासमय) प्रव्रज्या में अपनी अभिरुचि दिखायी । और दोनों ही प्रव्रजित होकर सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पा गये ॥ १८ ॥

अन्त में अशोक पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ । उसे राज्य करते हुए तीन वर्ष बीत चुके थे, इसके बाद उसे बुद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा हुई ॥ १९ ॥

महेन्द्र की उत्पत्ति का काल-निर्धारण– अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस समय भगवान् बुद्ध मल्लों के शालवन में परिनिर्वृत हुए और जब महेन्द्र का मौर्य वंश में जन्म हुआ– इन दोनों के कालक्रम में कितना अन्तर था? ॥ २० ॥

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद दो सौ चार (२०४) वर्ष बीते थे कि अशोक के पुत्र महेन्द्र का जन्म हुआ ॥ २१ ॥

महेन्द्र को उत्पन्न हुए दश वर्ष बीत चुके थे जब इस के पिता अशोक ने अपने सभी भाईयों की हत्या कर राज्य-सिंहासनारूढ़ होकर चार वर्ष बिताये ॥ २२ ॥

यों, अपने एक सौ भाइयों की हत्या कर राजवंश का एकमात्र उत्तराधिकारी बनकर अशोक ने अपना राज्याभिषेक कराया । उस समय महेन्द्र चौदह (१४) वर्ष का हुआ था ॥ २३ ॥

यों यह महान् तेजस्वी, पुण्यवान्, समग्र द्वीप का एकच्छत्र चक्रवर्ती राजा धर्माशोक राज्याभिषिक्त होते ही अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न हो गया ॥ २४ ॥

जब बीस वर्ष पूर्ण हुए (?) इस राजा प्रियदर्शी का अभिषेक हुआ । राजा ने पाषण्डियों का मत स्वीकार कर तीन वर्ष बिताये ॥ २५ ॥

राजा द्वारा तीर्थिकों के धर्म की मीमांसा– उस समय समाज में बासठ (६२) दृष्टिवादी मतों के अनुयायी पाषण्डी भी थे, दो भागों में विभक्त अन्य छ्यानवे (९६) पाषण्डवादी भी थे जो या तो शाश्वतवादी थे या उच्छेदवादी ॥ २६ ॥

कुछ निगण्ठ (जैन मतानुयायी) थे तो कुछ अचेलक (निर्वस्त्र, नग्न) थे । कुछ परिव्राजक थे तो कुछ कर्मकाण्डी ब्राह्मण । इनसे अतिरिक्त साधारण बुद्धि वाले, जो सरलता से समझाये (बहकाये) जा सकें, संन्यासी भी बहुत अधिक संख्या में मिलते थे ।। २७ ।।

इन हीनदृष्टिवालों में कुछ कभी शाश्वतवाद की तरफ तो कभी उच्छेदवाद की तरफ झुके रहते थे । इनके अतिरिक्त ऐसे लोग नाना दृष्टि (मत) वाले तीर्थिक पाषण्डियों की तरफ ही झुके हुए बहुलता से मिलते थे ।। २८ ।।

राजा अशोक ने इन बहुलता से उपलब्ध कुछ पाषण्डियों व तीर्थिकों को अपने प्रासाद में बुलाकर, भवन में बैठाकर, उन्हें भोजन कराकर उनके वादों (मतों) के विषय में सूक्ष्म एवं गहनतम प्रश्न किये, जिनका वे तीर्थिक कोई उत्तर नहीं दे पाये ।। २९ ।।

राजा द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर वे अपनी बुद्धि से कुछ भी उचित उत्तर न दे पाये । अपितु वे निर्बुद्धि 'आम' के विषय में पूछने पर 'कटहल' उत्तर देने लगते! धर्मोपदेश करना तो वे अणुमात्र भी नहीं जानते थे । अतः राजा ने उन सभी पाषण्डियों को अपने प्रासाद से निकाल बाहर किया ।। ३०-३१ ।।

उन सबको बाहर निकाल कर राजा ने सोचा– "अब हमें ऐसे श्रमण कहाँ मिलें जो ज्ञानी हों, जिन्होंने ज्ञानमार्ग को साक्षात् देख लिया हो! ।। ३२ ।।

"जो इस लोक की निःसारता को देखकर इस संसार-चक्र में फंसने के लिये उत्साह नहीं दिखाते– ऐसे सत्पुरुषों का दर्शन कब कर पाऊँगा! ।। ३३ ।।

"उन का सदुपदेश सुनकर उसके बदले में मैं अपना समग्र राज्य उन्हें समर्पित कर दूँगा" । राजा यों सोचता हुआ भी, इस दान के योग्य किसी को भी कहीं नहीं देख पाया ।। ३४ ।।

न्यग्रोध श्रमण– फिर भी राजा ऐसे शीलवान्, सन्मार्गगामी श्रमण को खोजने के लिये अपने राजप्रासाद के बरामदे या छत पर घूमते हुए राजमार्ग पर आते-जाते बहुत लोगों पर निरन्तर दृष्टि रखता था । एक दिन राजा ने सड़क (रथ्या) पर भिक्षा के लिये जाते हुए न्यग्रोध श्रमण को देखा ।। ३५ ।।

उस का रूप श्रद्धोत्पादक एवं तेजस्वी था, उस का पदक्रमण, उस का मार्ग में अवलोकन, आँखें खुली रखते हुए भी उन्हें एक सीमा तक ही देखने के लिये प्रेरित करना, उसका ज्ञान, उसका शान्त चित्त ॥ ३६ ॥

उत्तम इन्द्रियनिग्रह से युक्त, दान्त, गुप्त, सुरक्षित, कुललक्षणों से असंसृष्ट (रहित या गृहस्थों से असम्पृक्त), ऐसा लग रहा था मानो आकाश में निर्मल चन्द्रमा शोभित हो रहा हो ॥ ३७ ॥

वह मार्ग में चलता हुआ सिंह की तरह निर्भीक, अग्निज्वाला की तरह तेजस्वी, गौरवयुक्त, कठिनाई से पकड़ में आने योग्य, धैर्यवान्, शान्तचित्त, एवं स्थिरबुद्धि लग रहा था ॥ ३८ ॥

वह श्रमण क्षीणास्रव (निर्विकार), सर्वक्लेशरहित (सुखी) पुरुषोत्तम, चारों ब्रह्मविहार समाधियों से सम्पन्न दिखायी दे रहा था ॥ ३९ ॥

ऐसे सर्वगुणसम्पन्न उस न्यग्रोध भिक्षु को राजा स्नेहवश अपने पूर्व जन्म का कोई साथी समझने लगा । पूर्व जन्मों में पुण्यकर्म-फलों का संग्राहक, आर्य मार्ग फल में प्रतिष्ठित, सड़क पर जाते हुए इस भिक्षु को देखकर उस राजा ने सोचा— ॥ ४० ॥

"ज्ञानी, अर्हत्, लोकोत्तर मार्गफल में प्रतिष्ठित, मोक्ष तथा निर्वाण की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील यह बुद्ध का कोई शिष्य महान् स्थविर होकर लोक में विचरण कर रहा है" ॥ ४१ ॥

वह राजा, यह सोचकर, उस स्थविर के प्रति प्रीति आदि पाँच गुणों से सम्पन्न हुआ एवं उसने स्वचित्त को अत्यधिक प्रमोद एवं हर्ष से ऐसे युक्त कर लिया जैसे किसी निर्धन को गड़ा हुआ खजाना मिल गया हो या इन्द्र की तरह मनोवाञ्छित फल प्राप्त हो गया हो ॥ ४२ ॥

तब राजा ने तत्काल किसी अधिकारी को बुलाया और आदेश दिया--"अरे, देखो! नीचे सड़क पर भिक्षा के लिये शीघ्रता से जा रहे उस भिक्षु को सम्मान-पूर्वक यहाँ ले आओ जो शान्तवृत्ति है एवं जिसकी दृष्टि जनहित में कृपापूर्ण है तथा जिसकी गति हाथी की तरह गम्भीर है" ॥ ४३ ॥

राजा इस के बाद इस श्रमण के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु हो गया । यों उसने प्रसन्न एवं प्रहृष्टचित्त होकर उस श्रमण के विषय में पुनः यह सोचा– "यह श्रेष्ठ पुरुष अवश्य ही किसी उत्तम धर्म को अधिगत कर चुका है, जिसकी साधारण जन कल्पना भी नहीं कर पाते" ॥ ४४ ॥

यों उस श्रमण के विषय में मीमांसा करते हुए, राजा ने (श्रमण के आने पर श्रमण से) कहा– "भो प्रव्रजित! यह आसन सुव्यवस्थित रूप से बिछा हुआ है । आप, चाहें तो, इस आसन पर विराजें । यह आसन मेरी आज्ञा से आपके लिये ही बिछाया गया है" ॥ ४५ ॥

राजा की बात मानकर उस श्रमण ने राजा के दाहिने हाथ का सहारा लेकर, वह आसन ग्रहण किया । वे उस आसन पर विराजमान होकर ऐसे ही शोभित हुए मानो साक्षात् इन्द्र अपने पाण्डुकम्बल शिला-आसन पर विराजे हों ॥ ४६ ॥

इस तरह (विराजमान उस श्रमण को देखकर) राजा ने सोचा--"यह तरुण भिक्षु अवश्य ही श्रेष्ठ है, निश्चल एवं निर्भीक है ।" उसे देखकर राजा ने उस तरुण भिक्षु को कोई आर्य (श्रेष्ठ) व्रत का उत्तम धारक मान लिया ॥ ४७ ॥

उस (राजा) ने उस (श्रमण) के विषय में अपने मन में यह धारणा बना ली– "यह अवश्य सुशिक्षित है, धर्म और उसके अनुशासन (विनय) का जाननेवाला है, निर्भीक है, शान्त (या सन्त=श्रमण के) गुणों से सम्पन्न है, शरीर को सम्यक् प्रकार से ढके हुए है, श्रमणोचित आवश्यक नियमों का पालन करने वाला है, किसी उत्तम शास्ता का शिष्य है ।" यों उसके विषय में प्रसन्नचित्त होकर राजा ने फिर कहा– ॥ ४८ ॥

"आप अपने ज्ञान का मुझे भी उपदेश कीजिये । आज से आप ही मेरे शास्ता हैं । आपकी शिक्षा प्राप्त कर मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा । आप मुझे उपदेश करें, मैं उसको श्रद्धापूर्वक सुनूँगा" ॥ ४९ ॥

राजा को उपदेश–राजा के संवेगयुक्त वचन सुनकर श्रमण ने नौ (९) अङ्गों वाले बुद्धवचनों में भी मीमांसा करते हुए समग्र गम्भीर ज्ञान से पूर्ण त्रिपिटक का अवलोकन किया तो उन्होंने इस राजा को **अप्पमादसुत्त** का उपदेश करना उचित समझा । तथा उन्होंने यों उपदेश करना प्रारम्भ किया–॥ ५० ॥

"सभी इन्द्रियों को प्रमादरहित (विषयासम्पृक्त) रखना ही अमृत (निर्वाण=-मोक्ष) की तरफ ले जानेवाला मार्ग है । तथा (इसके विपरीत) इन्द्रियों को विषयोपभोग में लगाये रखना (=प्रमाद) मृत्यु (नरक) की तरफ पहुँचाने वाला मार्ग है । इसी लिये जो पुरुष अप्रमत्त हैं वे कभी मृत्यु (नरकयोनि) के पास नहीं जाते; परन्तु (इसके विपरीत) जो प्रमत्त (इन्द्रियविषयासक्त) हैं उन्हें तो आप सामान्यतः प्राण धारण किये हुए दिखायी देने पर भी मृत ही समझिये" ॥ ५१ ॥

राजा ने न्यग्रोध श्रमण के इस धर्मोपदेश का अनुमोदन करते हुए उस श्रमण का श्रेष्ठ होने का कारण समझ लिया कि जो कुछ भी सर्वज्ञ बुद्ध द्वारा उपदिष्ट वचन हैं वे ही इन श्रमणों के धर्माचरण के मूल (प्रधान) हेतु हैं ॥ ५२ ॥

राजा की सङ्घ में श्रद्धा– यह सोच कर राजा ने न्यग्रोध श्रमण से निवेदन किया–"भन्ते! आज से मैं आपकी शरण में आ गया हूँ । बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ की शरण में आ गया हूँ । मैं अपने पुत्र, स्त्री, नाती एवं सम्बन्धिजनों सहित आप का पूर्णतः उपासकत्व स्वीकार करता हूँ ॥ ५३ ॥

यों वह राजा पुत्र, स्त्री एवं सम्बन्धी जनों सहित उस कल्याणमित्र निग्रोध श्रमण की शरण में आकर उनसे फिर बोला--"मैं आप श्रमण की चार लाख (४,००,०००) रजतमुद्राओं से पूजा (अर्चना) करता हूँ तथा साथ ही प्रतिदिन आठ भिक्षुओं को भोजनदान का सङ्कल्प करता हूँ" ॥ ५४ ॥

(श्रमण बोले–"राजन्!) भगवान बुद्ध के बहुत से (अगणित) श्रावक (शिष्य) हैं जो समग्र त्रिपिटक के ज्ञाता है । ऋद्धिबलसम्पन्न है, दूसरे के चित्त के आशय (भाव) को जानने वाले हैं, क्षीणास्रव (निर्विकार) एवं ज्ञानी हो चुके हैं । (अतः आप द्वारा प्रदत्त ये आठ भोजनदान भिक्षुसङ्घ को समर्पित करता हूँ) ॥ ५५ ॥

राजा ने तब श्रमण से पुनः निवेदन किय.–"भन्ते! मैं ऐसे गुणी भिक्षुसङ्घ का दर्शन करना चाहता हूँ । उनके यहाँ पधारने पर हम उन्हें प्रणाम करेंगे तथा उनसे धर्मोपदेश. भी सुनेंगे" ॥ ५६ ॥

कुछ ही समय में वहाँ (पाटलिपुत्र में) साठ हजार (६०,०००) भिक्षु एकत्र हो गये । दूतों ने आकर राजा को यह सूचित किया–"देव! भिक्षुसङ्घ विशाल समूह के रूप में यहाँ आकर ठहरा हुआ है । यदि आप चाहें तो उनके दर्शन हेतु पधारें" ॥ ५७ ।

सङ्घपूजा की व्यवस्था--दूतों की बात सुनकर राजा अशोक ने अपने सभी सम्बन्धियों तथा मित्रों एवं अधिकारियों और बान्धवों को एकत्र किया ॥ ५८ ॥

और यह आदेश दिया--" विशाल भिक्षुसङ्घ इस पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ है । इस अवसर पर हम उन्हें दक्षिणा एवं दान करेंगे एवं यथाशक्ति, यथाबल उनकी सेवा-पूजा करेंगे ॥ ५९ ॥

"अतः इस शुभकार्य के लिये मण्डप, आसन, पवित्र जल, पूजा-सामग्री, दान-भोजन की शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था करो जो दान के योग्य हो और उनकी शोभा के अनुरूप हो ॥ ६० ॥

"इसी तरह सूप, सरल भोजन-सामग्री, एवं सुसंस्कृत यवागू की शीघ्र ही व्यवस्था करो, साथ ही शुद्ध एवं रुचिकर भोजन की भी ॥ ६१ ॥

"उस श्रेष्ठ गुणसम्पन्न भिक्षुसङ्घ को हम महादान (भोजनदान) भी देंगे । अतः नगर में भेरियाँ (दुन्दुभियाँ) बजवा दो, नगर के मार्गों को समलंकृत करवा दो ॥ ६२ ॥

"सभी मार्गों पर श्वेत बालू बिखरा (बिछा) दो, और पाँच रङ्ग के फूल भी उन मार्गों में बिछवा दो । स्थान-स्थान पर मूल्यवान् मालाएँ एवं तोरण सजा दो, पवित्र केले के खम्भे एवं जलपूर्ण घट-पंक्ति भी यथास्थान रखवा दो ॥ ६३ ॥

"ऋतुक्रम के अनुकूल जहाँ तहाँ स्तूप स्थापित कर दो । और रंग-विरंगे वस्त्रों की ध्वजाएँ जहाँ तहाँ मार्गों में बँन्धवा दो ॥ ६४ ॥

"इस तरह इस नगर को मालापंक्तियाँ लटकाकर भली भाँति सजा दो । सभी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र तथा ऐसे ही अन्य कुलों में उत्पन्न पुरुष भी वस्त्र, माला, आभरण आदि से भली प्रकार सज-धज कर जलते दीपक हाथ में लेकर सङ्घ के दर्शन हेतु चलें ॥ ६५-६६ ॥

"उस समय, अनेक मण्डलियों द्वारा बजाये जाने वाले तथा सभी वाद्यसमूह सहनाई (सुसिर) एवं ढोल भी कर्णमधुर ध्वनि से बजाये जायँ ॥ ६७ ॥

"हमारे नगर के वासी सभी आभूषणों के व्यापारी, श्रोत्रिय (वेदपाठी) ब्राह्मण, नट एवं नर्तक इस अवसर पर सङ्घ के स्वागत (अगवानी) के लिये एकत्र हों तथा उस भिक्षुसङ्घ को अपनी उपस्थिति से प्रसन्न करें ॥ ६८ ॥

"तरह-तरह के फूल, चित्र-विचित्र रंगों से रंगे हुए जल से भरे घड़े तथा पूजा की नानाविध सामग्री यथास्थान रखवा दी जाय ॥ ६९ ॥

"नगर के सभी मुख्य द्वारों (पटिहार) पर सर्वविध दान-सामग्री पहले से ही रखवा दी जाय । और इस नगर का रहने वाला प्रत्येक पुरुष अपनी तरफ से सङ्घ की सेवा-पूजा हेतु रात-दिन निरन्तर सन्नद्ध रहे" ॥ ७० ॥

उस रात्रि के व्यतीत होने पर, राजा ने अपने प्रासाद में रुचिकर खाद्य-सामग्री तय्यार करायी ॥ ७१ ॥

उस महायशस्वी ने अपने सभी अमात्यों एवं परिवार वालों को पुनः आदेश दिया–"गन्ध द्रव्य, माला, पुष्प राशि पुष्पछत्र एवं नाना प्रकार की रंग-विरंगी ध्वजाएँ ॥ ७२ ॥

"सभी नागरिक दिन में जलते हुए दीप लेकर निकलें, तथा साथ ही मैंने जो पहले आज्ञा दी है तदनुसार, वे सभी सामग्रियाँ साथ रखें ॥ ७३ ॥

"इस तरह, इस नगर के वासी जितने भी सब तरफ नागरिक हैं, सभी राज-परिषदों के पार्षद, तथा मेरी सारी सेना ॥ ७४ ॥

"भिक्षुसङ्घ के दर्शनहेतु मेरा ही अनुगमन करें" । यों बड़ी भारी राजकीय सज-धज (समारोह) के साथ वह सम्राट् (भिक्षुसङ्घ के दर्शनहेतु निकला। ॥ ७५ ॥

दर्शनहेतु जाता हुआ वह राजा उसी तरह शोभित हो रहा था मानो देवराज इन्द्र नन्दनवन जा रहा हो । यों राजा भिक्षुसङ्घ के पास शीघ्रता से गया ॥ ७६ ॥

वहाँ जाकर, प्रणाम कर-कुशल-मङ्गल पूछ कर, प्रसन्न होता हुआ हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा–"मेरे लिये आप अनुकम्पा करें ॥ ७७ ॥

"कि आप जितने भी भिक्षु यहाँ आये हैं वे सब मेरे महल में पधार कर भोजन करें" । तब सङ्घ की स्वीकृति के बाद राजा, सम्मान-प्रदर्शन के लिये सङ्घ स्थविर का पात्र अपने हाथ में लेकर ॥ ७८ ॥

पुष्प-वर्षा से उस सङ्घ की पूजा करता हुआ सङ्घ को नगर में ले गया । वहाँ अपने प्रासाद में ले जाकर बिछे आसनों पर भिक्षुओं को बैठा कर ॥ ७९ ॥

यागू एवं तरह तरह के रुचिकर भोजन स्वयं अपने हाथ से परोस कर भिक्षु जितना चाहें उतना देता रहा ॥ ८० ॥

यों, भोजन कर चुकने पर, भिक्षुसङ्घ द्वारा पात्रों से हाथ हटा लेने पर एक एक भिक्षु को दो दो चीवर देने लगा ॥ ८१ ॥

साथ में, पैरों में लगाने के लिये तैल, (वर्षा-धूप से रक्षा के लिये) छत्ता, पैरों में जूतियाँ, इसी तरह अन्य श्रमणोपयोगी वस्तुएँ एवं मधु और फाणित भी भिक्षुओं को दिया ॥ ८२ ॥

तदनन्तर, वह राजा धर्माशोक अपनी परिषद् के साथ भिक्षुसङ्घ को परिवृत कर बैठ गया । बैठकर राजा ने भिक्षुसङ्घ को प्रत्यय (भेषज-) दान किया ॥ ८३ ॥

वह राजा भिक्षुओं से पूछ-पूछ कर सबको यथेच्छ प्रत्ययदान कर रहा था । यों उसने उनको पूर्णतः सन्तृप्त करते हुए प्रत्ययदान किया ॥ ८४ ॥

फिर उसने सङ्घ से प्रश्न किया--"भन्ते! भगवान् ने यह जो इतना लम्बा-चौड़ा धर्मस्कन्ध उपदिष्ट किया है क्या इसका आदित्यबन्धु (भगवान्) ने कहीं कुछ विभाजन किया है? ॥ ८५ ॥

"उन्होंने इसका कोई नाम, लिङ्ग, विभक्ति, कोट्ठास (विवरण) बताया है कि इतना ही धर्मस्कन्ध है--ऐसी इसकी कोई गणना बतायी है?" ॥ ८६ ॥

भिक्षु बोले--"हाँ, राजन्! उन भगवान् ने इसका सम्यक्तया उपदेश करते हुए इसकी गणना करके ही सुविभक्त, सुप्रज्ञप्त, सुनिर्दिष्ट एवं सूपदिष्ट रूप से ॥ ८७ ॥

"सब कुछ हेतुसहित एवं अर्थयुक्त कहा है। इस सुभाषित में कुछ भी स्खलित (छूटा) नहीं है। इसमें स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय ॥ ८८ ॥

"बल, बोध्यङ्ग एवं मार्गाङ्ग सब कुछ सुविभक्त एवं सूपदिष्ट है। इसी तरह उत्तम सैंतीस (३७) बोधिपक्षीय धर्मों का (भी विशद वर्णन है) ॥ ८९ ॥

"इस तरह इस लोकोत्तर एवं श्रेष्ठ धर्म के बोधक नौ (९) अङ्गों वाले बुद्धशासन (बुद्धवचन) का उस नरश्रेष्ठ ने विस्तृत एवं सुविभक्त उपदेश किया है ॥ ९० ॥

"इस तरह उस आदित्यबन्धु भगवान् बुद्ध ने इस बुद्धवचन को चौरासी हजार (८४०००) धर्मस्कन्धों में विभक्त कर प्राणियों पर अनुकम्पा हेतु उपदेश किया है ॥ ९१ ॥

"यह धर्म अमृत से उत्तम है, श्रेष्ठ है, संसार से अनायास ही मुक्ति दिलाने वाला है। सभी दुःखों के क्षयकर्ता मार्ग का बोधक है। यह सभी भवरोगों की अमृततुल्य औषध है" ॥ ९२ ॥

विहारनिर्माण--

राजा ने भिक्षुसङ्घ के कहे हुए ये वचन सुन कर, प्रमोद (हर्ष) युक्त हास्य मिश्रित सुख का अनुभव करते हुए अपनी परिषद् के सम्मुख ये वचन कहे ॥ ९३ ॥

"भगवान् ने चौरासी हजार (८४,०००) धर्मस्कन्ध कहे हैं तो मैं भी इन स्कन्धों की स्मृति-रक्षा के लिये एक एक धर्मस्कन्ध के नाम पर एक-एक विहार बनाता हुआ यह चौरासी हजार (८४,०००) संख्या पूर्ण करूँगा ॥ ९४ ॥

"भगवान् ने चौरासी हजार (८४,000) धर्मस्कन्ध कहे हैं तो मैं भी इन स्कन्धों की स्मृति-रक्षा के लिये एक एक धर्मस्कन्ध के नाम पर एक-एक विहार बनाता हुआ यह चौरासी हजार (८४,000) संख्या पूर्ण करूँगा ॥ ९५ ॥

राजा ने इस वृहत्तम कार्य के सम्पादनहेतु छियानवे करोड़ (९६,00, 00,000) मुद्राओं का एक पृथक् कोष स्थापित कर दिया । और उक्त निर्माणहेतु उसी दिन राजाज्ञा भी प्रसारित करा दी ॥ ९६ ॥

उस समग्र जम्बुद्वीप में चौरासी (८४) प्रसिद्ध नगर थे । अतः उनमें से प्रत्येक नगर में एक एक विहार बनवाया ॥ ९७ ॥

बाद में, तीन वर्ष में यह निर्माणकार्य पूर्णतः सम्पन्न कराकर, विहारों के निर्मित हो जाने के बाद, इनके सम्मान में पूजा-सप्ताह मनाया ॥ ९८ ॥

सम्राट अशोक की धर्मश्रद्धा का वर्णन समाप्त ।

छठा परिच्छेद समाप्त ॥
छठा भाणवार भी समाप्त ॥

(विस्तार के लिये 'महावंश' का पञ्चम परिच्छेद भी देखें—अनु॰ ।)

सातवाँ परिच्छेद

(तृतीय सद्धर्मसंग्रह)

जम्बूद्वीप में चारों तरफ से आये हुए भिक्षुओं का एक विशाल समागम (समारोह) हुआ, जिसमें अस्सी करोड़ (८०, ००, ००, ०००) भिक्षु एवं छ्यानवें हजार (९६, ०००) भिक्षुणियाँ एकत्र हुईं ॥ १ ॥

इनमें बहुत से भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ छह अभिज्ञाओं से युक्त विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न थीं । अतः, भिक्षुओं ने अपने ऋद्धिबल से सम्पूर्ण पृथवी तल को देखा ॥ २ ॥

उन्होंने लोक की समीक्षा करते हुए उस समारोह के लिये उचित (योग्य) स्थान खोजा । अन्त में उन्होंने यही निर्णय किया–"अशोकाराम में बैठा हुआ राजा अशोक समग्र जम्बुद्वीप पर दृष्टि रख सकेगा" ॥ ३ ॥

तब भिक्षुओं के ऋद्धिबल के प्रभाव से –"अशोकाराम में ही बैठा हुआ भी राजा (अशोक) सर्वत्र दृष्टि रखने लगा, वह जम्बूद्वीप में बने सभी विहारों का, वहाँ बैठा हुआ ही, अवलोकन करता रहा है" ॥ ४ ॥

चारों तरह फहरायी गयी ध्वजाओं, फूलों, तोरणों, बन्धी हुई मालाओं, केले के खम्भों, जलपूर्ण घटों एवं नाना प्रकार के पुष्पों से आवृत ॥ ५ ॥

अलङ्कृत समग्र द्वीपमण्डल को देखते हुए प्रसन्नचित्त राजा उस महोत्सव के विषय में ही चिन्तन कर रहे थे ॥ ६ ॥

भिक्षुसङ्घ एवं भिक्षुणीसङ्घ के एकत्र होने पर महादान का आयोजन किया गया, भिक्षुओं को दान- सामग्री दी गयी ॥ ७ ॥

उन नवनिर्मित विहारों में विधिवत् होते हुए पूजा-महोत्सवों को सम्पन्न होते देखकर, राजा अशोक ने भिक्षुसङ्घ से निवेदन (प्रश्न) किया ॥ ८ ॥

"भन्ते! क्या मैं बुद्धशासन का दायाद (फल-प्रापक) बनने की स्थिति में आ गया हूँ । क्योंकि, भन्ते! मैने शासन की वृद्धि हेतु इन चौरासी हजार (८४,०००) विहारों के निर्माण में बहुत अधिक धन का त्याग किया है ?॥ ९ ॥

"मैने छयानवै करोड़ (९६, ००,००,०००) मुद्राएँ खर्च कर इन चौरासी हजार (८४, ०००) विहारों का निर्माण कराया है ॥ १० ॥

"इस के अतिरिक्त मैं इस उत्तम बुद्ध द्वारा उपदिष्ट इस धर्मस्कन्ध के सम्मान (पूजा) में प्रतिदिन चार लाख (४,००,०००) मुद्राएँ दान करता हूँ ॥ ११ ॥

"इसके अतिरिक्त मैं प्रतिदिन चैत्यपूजा के लिये पृथक्, न्यग्रोध (महाबोधि) पूजा के लिये पृथक्, धर्मोपदेशकों के लिये पृथक् तथा रोगी भिक्षुओं के लिये औषधदान हेतु पृथक् व्यवस्था करता हूँ ॥ १२ ॥

"इन सबके अतिरिक्त भिक्षुओं को निरन्तर भोजनदान तो मेरे यहाँ उसी तरह होता रहता है जैसे महागङ्गा से निरन्तर जल प्रवाहित होता है। अब क्या मेरे लिये कोई ऐसा परित्याग (दान) अवशिष्ट रह गया है जिसे मैने न किया हो ? ॥ १३ ॥

"मेरी बुद्धशासन में अत्यधिक श्रद्धा है, अतः मैं शासन का 'सर्वोत्तम दायाद' होने का अधिकारी हूँ?" अशोक राजा के कहे ये वचन सुन कर ॥ १४ ॥

पण्डित, श्रुतसम्पन्न, सन्दिग्ध बातों का दो टूक निर्णय करने में समर्थ, सङ्घ तथा शासन की वृद्धि के लिये उसके द्वारा निर्मित विहारों पर विचार कर ॥१५॥

तथा उसके द्वारा शासन की उन्नति हेतु तथा उसके द्वारा भविष्य में किये जाने वाले कार्यों पर विचार कर, बुद्धिमान् मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने राजा अशोक द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा– ॥ १६ ॥

"राजन्! विगत इतिहास का अवलोकन किया जाय तो सङ्घ के लिये ऐसे प्रत्यय-दाता तो बहुत मिल जायँगे, अतः इससे (इतने से कार्य से) किसी को 'सङ्घ का दायाद' बनने का अधिकार नहीं मिल जाता। हाँ, जो सङ्घ के लिये अपने प्रिय औरस पुत्र या पुत्री को भी दान में दे देता है वही पुरुष शासन का दायाद होने का वास्तविक अधिकारी है" ॥ १७ ॥

महेन्द्र की प्रव्रज्या– राजा ने स्थविर का यह उत्तर सुनकर अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा से पूछा–"पुत्रो! मैं 'सङ्घ का दायाद' होना चाहता हूँ" ॥ १८-१९ ॥

राजा के ये वचन सुनकर उन दोनों (पुत्र-पुत्रियोंने) अपनी स्वीकृति दे दी। और कहा–"बहुत अच्छा है, देव! अपनी तरफ से हम आपकी इच्छा पूर्ण कर आप के कार्य में सहायक बनेंगे ॥ २० ॥

"आप हमें तत्काल (शीघ्र ही) प्रव्रज्या दीक्षा दिलावें, और इस प्रकार आप 'सङ्घ के दायाद' बनने के अधिकारी हों ।" उस समय अशोक का पुत्र महेन्द्र (२०) वर्ष का था ॥ २१ ॥

और उसकी पुत्री सङ्घमित्रा अठारह (१८) वर्ष की थी । जब राजा को राज्य-भिषिक्त हुए छह (६) वर्ष बीत चुके थे, तब इन दोनों की प्रव्रज्या हुई ॥ २२ ॥

भविष्य में द्वीप की उन्नति में सहायक महेन्द्र प्रव्रजित होने के समय ही उपसम्पन्न हो गये, परन्तु सङ्घमित्रा, सङ्घ के कठोर नियमों के कारण, उसी समय उपसम्पन्न तो न हो सकी परन्तु उसने शील आदि शिक्षाओं का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

ये स्थविरवादी, महामण्डलेश्वर मोग्गलिपुत्र तिष्य जब चौवन (५४) वर्ष के थे, उसी समय अशोक का (राज्य) अभिषेक हुआ था ॥ २४ ॥

सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक से छह वर्ष बाद जब मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर साठ (६०) वर्ष के हो गये तब महेन्द्र ने इन्हीं स्थविर के सान्निध्य में प्रव्रज्या-दीक्षा प्राप्त की । महादेव स्थविर ने महेन्द्र को प्रव्रज्या-दीक्षा दी ॥ २५ ॥

महेन्द्र की शिक्षा– इन्हीं दोनों सङ्घनायकों (स्थविरों) ने महेन्द्र पर अनुकम्पा करते हुए उसे तीनों पिटकों की शिक्षा दी । मोग्गलिपुत्र तिष्य ही उस द्वीपद्द्योतक महेन्द्र के उपाध्याय बने ॥ २६ ॥

उन्होंने ही उसको समग्र पिटक, अर्थ एवं धर्म के साथ, पढाया । अशोक को शासन करते जब दश (१०) वर्ष हो चुके थे तब महेन्द्र चार (४) वर्ष के ही हुए थे । (भिक्षु-परम्परा में भिक्षुओं की आयु प्रव्रज्या-काल से गिनी जाती है।) ॥२७॥

इसी अवस्था (चार वर्ष) में ही श्रवणयोग्य सभी धर्म–वचन सुनकर उन्हें ग्रहणकर, वे सङ्घ में गणी (समूह का नायक) एवं प्राचार्य हो गये । इन्होंने दोनों (विनय एवं सूत्र) संग्रहों को सुदेशित एवं सुविभक्त रूप से ग्रहण कर लिया ॥ २८ ॥

यों, उस अशोकपुत्र महेन्द्र ने समग्र स्थविरवाद (के शास्त्र) को मोग्गलिपुत्र तिष्य से पढ़कर ग्रहण कर लिया ॥ २९ ॥

ये मोग्गलिपुत्र तिष्य अपने शिष्य महेन्द्र को तीनों विद्याएँ, छह अभिज्ञाएँ, चारों प्रतिसंविदाएँ, साथ ही आगम (शास्त्र) के सभी पिटक निरन्तर सिखाते रहते थे ॥ ३० ॥

यों, अशोक के शासनकाल के तीन (३) वर्ष बीतने पर न्यग्रोध, चार वर्ष बीतने पर सम्राट अशोक का भाई तथा छह (६) वर्ष बीतने पर अशोक का पुत्र महेन्द्र प्रव्रजित हुआ था ॥ ३१ ॥

ऋद्धिसम्पन्न कुन्तीपुत्र तिष्य स्थविर एवं सुमित्र–ये दोनों अशोक के शासनकाल के आठवें वर्ष में परिनिवृत हुए ॥ ३२ ॥

इन कुमारों की प्रव्रज्या एवं उन स्थविरों के परिनिर्वाण के समय बहुत से नागरिक क्षत्रिय एवं ब्राह्मण एकत्र हुए जिन्होंने धर्म का उपासकत्व स्वीकार किया ॥ ३३ ॥

सङ्घ में सङ्कट–(राज्य का संरक्षण मिलने के कारण) उस समय सङ्घ को राजा एवं नागरिकों की तरफ से बहुत अधिक लाभ एवं सत्कार मिलने लगा । अतः अन्य तीर्थिक जन पहले प्राप्त होने वाले लाभ सत्कारों से वञ्चित होने लगे ॥ ३४ ॥

तब बहुत से पाण्डुरङ्ग-मतानुयायी (वैष्णव) एवं जटिल (शैव), निगण्ठ (जैन), अचेलक (नग्न) आदि तीर्थिक लाभसत्कार की प्राप्तिहेतु सङ्घ में भिक्षु बन कर प्रविष्ट हो गये । अन्त में स्थिति यह आ गयी कि सङ्घ का नियमित उपोसथ भी सात (७) वर्ष तक नहीं हो पाया ॥ ३५ ॥

ती.र्थकों की बहुलता हो जाने के कारण आर्य, सदाचारी, धर्म का सङ्कोच (लज्जा) करने वाले भिक्षु उपोसथ में निर्भय होकर नहीं आ पाते थे । अन्त में, भगवान् के महापरिनिर्वाण के दो सौ छत्तीस वर्ष (२३६) बाद ऐसी स्थिति आ गयी कि आजीवक आदि अन्य मतानुयायी साठ हजार (६0, 000) तीर्थिकजन भिक्षुवेष धारण कर अशोकाराम में आकर रहने लगे । वे सङ्घ को नाना प्रकार से दूषित करने लगे ॥ ३६-३७ ॥

ये सभी काषाय वस्त्र धारण कर बुद्ध-शासन को दूषित करने लगे । तब हजार (१000) भिक्षुओं से परिवृत, षडभिज्ञ एवं ऋद्धिसम्पन्न ॥ ३८ ॥

महाप्राज्ञ, एवं परमतविध्वंसक स्थविर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने स्थविरवाद मत को पुनः सुदृढ कर तृतीय धर्मसङ्गीति का सफल आयोजन किया ॥ ३९ ॥

उसी के माध्यम से उन्होंने अन्य तीर्थिकों के मतवाद का खण्डन कर, उन निर्लज्जों का सङ्घ से निष्कासन कर, शासन को पुनः पूर्ववत् जनता में सम्मान दिलाते हुए स्वरचित **कथावत्थुप्रकरण** नामक अभिनव ग्रन्थ का भी उस धर्मसङ्गीति के अवसर पर प्रकाशन (प्रचार) किया ॥ ४0 ॥

ऐसे उस मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर का वह महेन्द्र शिष्य था। उस का उपाध्याय बन कर स्थविर ने उसको समग्र सद्धर्म (त्रिपिटक) का ज्ञान दिया ॥ ४१ ॥

उन्होंने उसको दीघनिकाय आदि पाँचों निकाय एवं धातुकथा, कथावत्थु आदि अभिधर्म के सातों प्रकरणग्रन्थ पढाये। भिक्षुप्रातिमोक्ष एवं भिक्षुणीप्रातिमोक्ष, परिवार एवं खन्धक (महावग्ग, चुल्लवग्ग) का अध्ययन कराया। उस धीर एवं कुशल शिष्य ने इन सबका उद्ग्रहण किया ॥ ४२ ॥

तृतीय धर्मसङ्गीति का विस्तृत वर्णन—भगवान के महापरिनिर्वाण से दो सौ छत्तीस वर्ष बीत जाने के बाद इन स्थविरवादियों में फिर एक घोर मतभेद उत्पन्न हो गया ॥ ४३ ॥

उस समय पाटलिपुत्र नगर पर महाराज धर्माशोक राज्य करते थे। जो कि बुद्धशासन में अत्यन्त श्रद्धालु थे ॥ ४४ ॥

उन्होंने मण्डलीश्वरों सहित सङ्घ के लिये महादान का आयोजन किया। उस अवसर पर चार लाख (४,००,०००) मुद्राएँ एक ही दिन में खर्च कर दीं ॥ ४५ ॥

इसी तरह उस (राजा) ने चैत्यपूजा के अवसर पर उक्त मुद्रा का एक भाग, धर्मश्रवण के समय एक भाग, तथा रोगी भिक्षुओं को औषधदान के लिये एक भाग निकाला ॥ ४६ ॥

अन्य तीर्थिक लोग सङ्घ का यह महान् लाभ और सत्कार देख कर उसी के लोभ में स्तेयसंवासक बनकर (चौरी से काषाय वस्त्र पहनकर) साठ हजार (६०,०००) की सङ्ख्या में सङ्घ में प्रविष्ट हो गये ॥ ४७ ॥

इस कारण, अशोकारामविहार में उपोसथ (प्रातिमोक्षपाठ) की परम्परा छिन्न भिन्न हो गयी। उक्त परम्परा को पुनः सञ्चालित करने के लिये अशोकाराम भेजे गये एक मूर्ख अमात्य ने कुछ भिक्षुओं को मार डाला ॥ ४८ ॥

इस घटना से दुःखी होकर साठ हजार (६०,०००) स्थविरवादी भिक्षु एकत्र हुए ॥ ४९ ॥

इस सम्मेलन में मोग्गलिपुत्र तिष्य भी सम्मिलित हुए, जो कि ज्ञान एवं ध्यान में शास्ता के ही सदृश से थे, महान् श्रमण भी थे। पृथ्वी पर उस समय इन जैसा कोई अन्य श्रमण नहीं था ॥ ५० ॥

अपने अमात्य द्वारा की गयी भिक्षु-हत्या के विषय में राजा द्वारा पूछने पर कि इस का फल किसको भोगना पड़ेगा? उन मोग्गलिपुत्र तिष्य ने एक चमत्कार (प्रातिहार्य) दिखाते हुए राजा के सन्देह का निराकरण किया ॥ ५१ ॥

राजा ने स्थविर से शासन को शुद्ध करने का उपाय पूछ कर उन स्तेय-संवासक भिक्षुओं के वस्त्रादि भिक्षुचिह्न छीन कर उन्हें सङ्घ से निष्कासित कर दिया ॥ ५२ ॥

क्योंकि ये तीर्थिक अपने ही मत से प्रव्रजित होकर भगवान् बुद्ध के प्रति अनादर भाव के कारण उनके वचनों की उसी तरह निन्दा करने लगे थे जैसे कोई मूर्ख शुद्ध सुवर्ण की निन्दा कर रहा हो ॥ ५३ ॥

वे सभी तीर्थिक भिन्न भिन्न मतों के अनुयायी थे, बुद्ध-शासन के विरोधी थे, अतः उनके निग्रह के लिये अपने मत (स्थविरवाद) की पुष्टि अत्यावश्यक हो गयी थी ॥ ५४ ॥

उसी भिक्षुसन्निपात में मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने अभिधर्म विषय पर स्वरचित **कथावत्थुप्रकरण** भी सुनाया जो अपने मत की परिपुष्टि एवं शासन की चिर स्थिति के लिये अतिमहत्त्वपूर्ण था ॥ ५५ ॥

उन महास्थविर ने उस समय के विशाल भिक्षुसङ्घ में से अच्छे अच्छे विद्वान् एक हजार (१,०००) भिक्षुओं का चयन कर उनके साथ बैठकर यह धर्मसङ्गायन सम्पन्न किया था ॥ ५७ ॥

यह तृतीय सङ्गीति (पाटलिपुत्र के) अशोकाराम विहार में, महाराज धर्माशोक के संरक्षण में नौ (९) मास की अवधि में निष्पन्न हुई ॥ ५८ ॥

तृतीय सद्धर्मसंग्रह वर्णन समाप्त ॥

सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥

सप्तम भाणवार समाप्त ॥

(इस कथा का विस्तार महावंस के पञ्चम परिच्छेद में देखें–अनु.)

आठवाँ परिच्छेद

(विविध देशों में धर्म के प्रति श्रद्धोत्पाद)

दीर्घदर्शी (दूरदृष्टि) मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने दिव्य चक्षु से भविष्यत् (अनागत) काल में प्रत्यन्त (सीमावर्ती) प्रदेशों में धर्म की हानि को देखते हुए वहाँ अभी से प्राणियों के हित में धर्म-प्रचार हेतु ॥ १-२ ॥

सङ्घ के स्थविरों से कहा– "आप लोग समर्थ हैं, ऋद्धिबलसम्पन्न है, अतः चार-चार भिक्षुओं के साथ स्वयं को पाँचवाँ मानकर (पाँच पाँच की मण्डली में) सीमावर्ती देशों के प्राणियों पर अनुकम्पा (अनुग्रह) करते हुए वहाँ धर्म-प्रचार हेतु प्रस्थान करें" ॥ ३ ॥

महास्थविर का आदेश मानकर, गन्धार देश में महास्थविर मज्झन्तिक गये। वहाँ उन्होंने अपने ऋद्धिबल से, क्रुद्ध नागराज का दमन कर, उसकी धर्म में श्रद्धा उत्पन्न की तथा साथ ही वहाँ के सांसारिक विषयासक्त अनेक प्राणियों को धर्मोपदेश द्वारा भवबन्धन से मुक्त किया ॥ ४ ॥

इसी तरह महान् ऋद्धिबल के स्वामी महादेव स्थविर ने महिषमण्डल (वर्तमान–खानदेश, नर्मदा से दक्षिण) प्रदेश में जाकर वहाँ की धर्मप्राण जनता को, धर्म के प्रति प्रेरित कर, नरक की तरफ जाने से रोक कर, भवबन्धन से मुक्त कराया ॥ ५ ॥

इसी तरह दूसरे रक्षित नामक महास्थविर ने, जो कि विकुर्वणा (ऋद्धिबल) में अद्वितीय थे, आकाशमार्ग से जाकर अनमतग्गियसुत्त का उपदेश किया।

[यहाँ वस्तुतः 'वेहासं' पाठ न होकर 'वनवासं' पाठ होना चाहिये तब अर्थ होगा- "वनवास (कर्नाटक) प्रदेश में जाकर अनमतग्गियसुत्त का उपदेश किया"। इस तरह इस प्रकरण से 'महावंस' ग्रन्थ में आये इस प्रकरण की समानता बैठेगी] ॥ ६ ॥

अपरान्तक प्रदेश (वर्तमान में महाराष्ट्र) में यवनक धर्मरक्षित को भेजा, उन्होंने वहाँ धर्मजिज्ञासु जनता को अग्निस्कन्धोपम सूत्र का उपदेश किया, जिससे वे धर्म के आचरण में व्यापृत हुए ॥ ७ ॥

इसी तरह, महाधर्मरक्षित को (अवशिष्ट) महाराष्ट्र प्रदेश की तरफ भेजा, जहाँ उस ऋद्धिमान् स्थविर ने **नारदकाश्यप जातक** का उपदेश कर प्राणियों के सांसारिक कष्ट दूर किये ॥ ८ ॥

यवनक प्रदेश में महारक्षित स्थविर को भेजा गया । वहाँ उन्होंने **कालकारामसुत्त** की कथा का वाचन कर प्राणियों को धर्म के प्रति जागरूक किया ॥ ९ ॥

हिमालय-प्रदेश के यक्षगणों में धर्म के प्रति श्रद्धोत्पाद के लिये अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा दुष्प्रधर्ष मध्यम स्थविर को काश्यपगोत्र, सहदेव, एवं मूलकदेव स्थविर साथ देकर भेजा गया ॥ १० ॥

महर्धिक शोण एवं उत्तर स्थविरों ने सुवर्णभूमि (वर्तमान–वर्मा) जा कर, वहाँ पिशाचों (राक्षसों) का दमन कर अनेक प्राणियों के हृदय में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर उन्हें भवबन्धन से छुड़ाने का प्रयास किया ॥ ११ ॥

इसी तरह, महेन्द्र शिविर ने अपने साथ चार अन्य स्थविरों को लेकर शासन की स्थिरता हेतु लङ्का द्वीप में जाकर वहाँ ऐसी प्रबल रीति से धर्म-प्रचार किया कि वहाँ की समग्र जनता ही धर्मसरोवर में पुण्यस्नान करने लगी । उसके प्रभाव से उनमें से अनेक ने अपने को भवबन्धनमुक्त कर लिया ॥ १२ ॥

नानादेशों में श्रद्धोत्पादवर्णन नामक
अष्टम परिच्छेद समाप्त ॥

(यही कथा महावंस के द्वादश परिच्छेद में बहुत विस्तारपूर्वक कही गयी है-अनु.)

नवम परिच्छेद

(विजय का लङ्का में आगमन)

यह लङ्का द्वीप 'सिंह' नाम की प्रधानता के कारण 'सीहल' इस नाम से भी लोक में विख्यात हो गया। अतः अब इस द्वीप की उत्पत्ति, इस द्वीप पर राज्य करने वाले राजाओं के वंश-वर्णन की कथा सुनिये, जिसे मैं कहने जा रहा हूँ ॥ १ ॥

वन में जाती हुई, वङ्गराज की किसी कन्या (सुसीम) ने सिंह के साथ सहवास करके दो सन्तानें पैदा कीं ॥ २ ॥

राजा सिंहबाहु– उन में कुमार का नाम था 'सिंहबाहु' एवं कुमारी का नाम था 'सीवली'। दोनों ही दीखने में सुन्दर थे। इनकी माता का नाम था 'सुसीमा' और पिता का नाम था 'सिंह' ॥ ३ ॥

सोलह (१६) वर्ष बाद उन लोगों नें उस सिंह की गुफा से निकलकर लाडराष्ट्र (प्रदेश) में जाकर वहाँ एक नगर 'सिंहपुर' नाम से बसाया ॥ ४ ॥

उस श्रेष्ठ सिंहपुर में उस महाबली सिंहपुत्र (सिंहबाहु) ने अपना राज्य स्थापित किया ॥ ५ ॥

उस सिंहपुत्र के बत्तीस (३२) सन्तानें हुईं। ये सभी पुत्र थे। विजय और सुमित्र उन बत्तीसों में योग्य एवं ज्येष्ठ थे ॥ ६ ॥

विजयकुमार– उनमें भी ज्येष्ठ विजयकुमार प्रगल्भ (चतुर) परन्तु कर्कश स्वभाव वाला था। वह अपने दुष्कृत्यों से सामान्य नागरिकों को बहुत अधिक कष्ट देता था ॥ ७ ॥

तब वे उस दुष्ट विजय से त्रस्त नागरिक राजा के पास गये और उनसे विजय द्वारा दिये कष्टों का निवेदन किया ॥ ८ ॥

राजा ने उन नागरिकों की व्यथा-कथा सुनकर विजय पर क्रुद्ध होते हुए अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि "इस विजयकुमार को राज्य से बाहर निकाल दो । साथ ही उसके बन्धु-बान्धव, साथी-सहायक, स्त्री-पुत्र–सभी को देश से बहिष्कृत कर दो" ॥ ९-१० ॥

जम्बुद्वीप से निष्कासन– तब अधिकारियों ने उनको नगर से निकाल कर, उन को बाँध कर नाव में डाल कर नाव को समुद्र में छोड़ दिया ॥ ११ ॥

और कह दिया–'तुम जिधर चाहो उधर भाग जाओ । यहाँ कभी अपना मुख न दिखाना, न यहाँ आने की इच्छा ही करना "॥ १२ ॥

तब वह विजयकुमार अपने साथियों के साथ उस नाव पर ही बैठा हुआ ऐसे दूर द्वीप में चला गया जिसका नाम था 'नग्नद्वीप' ॥ १३ ॥

और उनकी महिलाएँ जिस नाव पर बैठ कर जिस द्वीप में पहुँची उस द्वीप का नाम पड़ा–'महिलाराष्ट्र' ॥ १४ ॥

वे पुरुष पुनः नाव से जाते हुए समुद्र में रास्ता भूल गये और शूर्पारक बन्दरगाह पहुँच गये ॥ १५ ॥

वे सात सौ आदमी शूर्पारक बन्दरगाह (जम्बुद्वीप का पश्चिमी तट) पर उतर गये । वहाँ शूर्पारकवासियों ने उनका बहुत स्वागत-सत्कार किया ॥ १६ ॥

उनका इतना स्वागत-सत्कार किये जाने पर भी, वे विजय एवं उनके साथी, वहाँ (शूर्पारक में) भी वही लूट-पाट आदि कुकृत्य बिना सोचे समझे करने लगे ॥ १७ ॥

वहाँ भी उन्होंने जीवहत्या, चौरी, परस्त्रीगमन, असत्य-भाषण, चुगलखोरी, आदि अनाचार एवं दौःशील्य (कुकर्म) करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १८ ॥

उनके इन रूक्ष, कर्कश घोर दारुण कर्मों से उद्विग्न एवं त्रस्त होकर वहाँ के मूल निवासियों ने विचार किया कि "इन दुष्टों को तो तत्काल मार डालाना चाहिये" ॥ १९ ॥

विजय का लङ्का में पहुँचना– तब वे (विजय आदि) वहाँ (शूर्पारक) से भाग कर ताम्रपर्णी बन्दरगाह (वर्तमान–जाफना) द्वीप पहुँचे जो समय समय पर ओजद्वीप, 'वरदीप', 'मण्डदीप' या 'लङ्काद्वीप' कहलाता रहा ॥ २० ॥

विजय के लिये भगवान् की भविष्यवाणी–महापरिनिर्वाण के समय, पुरुषश्रेष्ठ भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि "यह सिंहबाहु का पुत्र विजयकुमार क्षत्रिय ॥ २१ ॥

जम्बुद्वीप छोड़ कर लङ्काद्वीप पहुँचकर अवश्य ही एक दिन वहाँ का राजा बनेगा" ॥ २२ ॥

तब उन्होंने देवराज इन्द्र से कहा–"लङ्काद्वीप के इस उत्साह (-वर्धन) में आप की तरफ से कोई भूल न होने पावे" ॥ २३ ॥

भगवान् के वचन सुनकर स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र ने तत्काल उत्पलवर्ण (श्यामवर्ण विष्णु) देवता को आदेश दिया कि वह द्वीप की रक्षा में कटिबद्ध रहे ॥ २४ ॥

तब देवराज इन्द्र की आज्ञा मानकर वह उत्पलवर्ण देवता अपने साथियों के साथ लङ्का द्वीप की रक्षा में जुट गया ॥ २५ ॥

उधर भरुकच्छ में तीन मास रहकर वह विजयकुमार वहाँ की जनता द्वारा उत्त्रस्त किये जाने पर फिर से आगे की यात्रा के लिये चल पड़ा ॥ २६ ॥

तब वे सभी अपनी नाव पर चढ़कर सागर पार करते हुए वायुवेग की तीव्रता से समुद्र से नदी की तरफ फेंक दिये गये । यों, विवशतः वे लङ्का द्वीप में आकर नाव से उतर कर भूमि (जमीन) पर बैठे । जब वे भूमि पर उतरे तो उन्हें बहुत भूख लगी थी ॥ २७-२८ ॥

इसी प्रकार वे प्यासे भी थे । अतः वे भूख-प्यास के कारण पैरों से चलने में असमर्थ हो चुके थे । वे अपने हाथ-पैरों के सहारे से आगे खिसकने लगे ॥ २९ ॥

ताम्रपर्णी—बीच में विश्रामहेतु ठहरकर जब उन्होंने वालुकामय भूमि में पड़े अपने हाथों को रंगा हुआ देखा ॥ ३० ॥

तो उन्होंने उस स्थान का नाम 'ताम्रपर्णी' बोलना प्रारम्भ कर दिया । इस तरह उस लङ्का द्वीप में वह ताम्रपर्णी पहला नगर था ॥ ३१ ॥

जहाँ विजय ने वास करते हुए स्वामित्व (ऐश्वर्य) पूर्वक शासन किया । विजय कुमार ने अपने इस विजित (अधिकृत) देश का नाम अपने ही नाम पर विजितपुर रखा ॥ ३२ ॥

यहाँ सर्वप्रथम उतरनेवाले उस विजय के समूह में एक आदमी उपतिष्य भी था । उसके साथ ही उसके कुछ नर-नारी भी उतरे ॥ ३३ ॥

नगर-निर्माण— उन क्षत्रियों ने उस दिशाभाग में पृथक् पृथक् नगर बसाये । ताम्रमपर्णी नगर के दक्षिण में नदी के रम्य तट पर ॥ ३४ ॥

विजय ने नया नगर बसाया । उसके चारों तरफ प्राकार (परकोटा) बनवाया । विजित ने इसी नाम से नगर बसाया तथा नक्षत्र नामक अमात्य ने अनुराधपुर नगर बसाया ॥ ३५ ॥

वहाँ अच्युतगामी ने उज्जयिनीनगर बसाया । तथा उपतिष्य पुरोहित ने अच्छी तरह सुविभक्त कर उपतिष्यनगर बसाया ॥ ३६ ॥

इस तरह समृद्ध, धन-धान्यसम्पन्न, सुविस्तृत, रमणीय, मनोहर लङ्काद्वीप पर वह विजय प्रथम राजा बना ॥ ३७ ॥

आगामी सात वर्षों में वह जनपद जनाकीर्ण हो गया ॥ ३८ ॥

राजा विजय ने यहाँ लङ्का द्वीप पर अड़तीस (३८) वर्ष तक राज्य किया ।

भगवान् बुद्ध ने भी सम्बोधि-प्राप्ति के नौ (९) मास बाद यहाँ आ कर यक्षदमन किया था ॥ ३९ ॥

भगवान् बुद्ध ने बोधि-प्राप्ति के बाद पुनः पाँचवें (५) वर्ष में आकर यहां नागों का दमन किया था और आठवें (८) वर्ष में तीसरी बार यहाँ आकर समाधिसमापन्न हुए थे ॥ ४० ॥

लङ्का में ये तीन स्थान हैं जहाँ भगवान् भी अपने समय में आ चुके है । सम्बुद्ध के अन्तिम (परिनिर्वाण) वर्ष में राजा विजय इस लङ्का द्वीप में आये थे ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ भगवान् बुद्ध ने ही इस लङ्का द्वीप में मनुष्यों का आवास प्रारम्भ कराया था । यह कार्य करके ही भगवान् इस संसार से परिनिवृत्त हुए थे ॥ ४२ ॥

भगवान् के महापरिनिर्वाण के बाद राजा विजय ने यहाँ अड़तीस (३८) वर्ष राज्य किया ॥ ४३ ॥

सुमित्र के पास दूत-प्रेषण– राजा विजय ने अपनी अन्तिम (वृद्ध) अवस्था में अपने छोटे भाई सुमित्र के पास जम्बुद्वीप के सिंहपुर में एक दूत भेजा । और उससे कहलाया कि "तुम में से कोई एक शीघ्र ही लङ्का चला आवे ॥ ४४ ॥

ताकि मैं उसे राज्य-भार सौंप सकूँ ; क्योंकि यह राज्य मैने अपने पराक्रम से अर्जित किया है, अतः ऐसा न हो कि कोई दूसरा इस पर नियन्त्रण कर ले" ॥ ४५ ॥

नवम परिच्छेद समाप्त ॥
नवम भाणवार समाप्त ॥

(इस कथा के विस्तार के लिये 'महावंस' का षष्ठ एवं सप्तम परिच्छेद देखें–अनु-1)

दशम परिच्छेद

(पण्डुकाभयराजा की उत्पत्ति)

राजा पाण्डुकाभय--वंश की परम्परा को सुरक्षित रखने हेतु जम्बुद्वीप (भारत) से यहाँ आयी पाण्डुशाक्य की पुत्री कच्चाना (कात्यायनी) नाम की क्षत्रियाणी को ॥ १ ॥

पाण्डुवास ने क्षत्रियों की पद्धति से अपनी महारानी के पद पर नियुक्त किया। दोनों के संवास से उनको ग्यारह (११) सन्तानें हुईं। (जिन में दश पुत्र थे और एक कन्या) ॥ २ ॥

उन (सन्तानों) के नाम क्रमशः ये थे; जैसे– १. अभय, २. तिष्य (प्रथम), ३. उत्तिय, ४. तिष्य (द्वितीय), ५. असेल, ६. विभात, ७. राम, ८. शिव, ९. मत्त एवं १०. मत्तकल। तथा ११. चित्ता नाम से प्रसिद्ध कन्या थी ॥ ३ ॥

यह कन्या इतनी रूपवती थी कि इसे देखने वाले का चित्त यह तत्काल अपनी ओर आकृष्ट (मुग्ध) कर लेती थी ॥ ४ ॥

वह राजा अपने राज्याभिषेक वाले वर्ष से ही उपतिष्य ग्राम को अपनी राजधानी बना कर वहीं से अपने अधीन समग्र राज्य का शासन करने लगा। यों उस राजा ने पूरे तीस (३०) वर्ष तक वहाँ राज्य किया ॥ ५ ॥

अमितोदन शाक्य के सात नाती थे। जैसे– १.राम, २. तिष्य, ३. अनुराध, ४. महालि, ५. दीर्घायु, ६. रोहिणी एवं ७ ग्रामणी। ये सातों ही भगवान् (बुद्ध) के वंशज (कुलोत्पन्न) थे ॥ ६ ॥

इस पाण्डुवास के पुत्र अभय क्षत्रिय ने यहाँ निरन्तर बीस (२०) वर्ष तक राज्य किया ॥ ७ ॥

इसी बीच उक्त दीर्घायु के पुत्र ग्रामणी ने, जो कि अत्यधिक धीर-वीर एवं कुशल था, पण्डुवास की सेवा में रहते हुए उसकी चित्ता कन्या में अनुराग कर लिया ॥ ८ ॥

इसी अनुराग के बढते-बढते उन दोनों का संवास हो गया । उस संवास के कारण उनको पाण्डु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह (पुत्र) अपनी रक्षा के लिये बारह वर्ष राजप्रासाद के द्वारमण्डल में रहा ॥ ९ ॥

दसवाँ परिच्छेद समाप्त ॥
दसवां भाणवार भी समाप्त ॥

(इस संक्षिप्त कथा का विस्तार महावंश के अष्टम एवं नवम परिच्छेद में भी देखें-अनु. ।)

ग्यारहवाँ परिच्छेद

(राजा देवानाम्प्रिय तिष्य का अभिषेक)

राजा प्रकुण्डक–राजा अभय के बीस (२०) वर्ष तक शासनकाल के बाद पकुण्डक[1] जन्मतः बीस वर्ष का ही हुआ था । अन्त में, यह पकुण्डक सैंतीस वर्ष की आयु में राज्याभिषिक्त हुआ ।। १ ।।

अभय के शासन-काल के बीसवें वर्ष में यह प्रकुण्डक चौर (विद्रोही) बन गया ।। २ ।।

सत्तरह (१७) वर्ष बाद, इस प्रकुण्डक ने अपने सात मामाओं को मार कर अनुराधपुर में अपना राज्याभिषेक कराया ।। ३ ।।

इस (प्रकुण्डक) ने अपने शासन के दश वर्ष व्यतीत होने पर, आगामी साठ (६०) वर्षों में अपने राज्य के ग्रामों की सीमाएँ दृढ़ता से बाँधी ।। ४ ।।

इस पकुण्डक ने दैविक एवं ऐहलौकिक (मानुषिक)--दोनों ही प्रकार के भोगों को भोगते हुए सत्तर (७०) वर्ष से अधिक समय तक राज्य किया ।। ५ ।।

राजा मुटशिव–प्रकुण्डक के पुत्र मुटशिव ने ताम्रपर्णी का राजा बनकर वहाँ साठ (६०) वर्ष तक राज्य किया ।। ६ ।।

इसी राजा मुटशिव के पुत्र दश भाई थे--१.अभय, २.तिष्य, ३.नाग, ४. उत्तिय, ५ मुक्त, ६ अभय, ७.मित्र, ८.शिव, ९.अशैल एवं 10 तिष्य । इसी मुटशिव को दो (२) पुत्रियाँ भी थी--१.अनुला देवी, और २. सीवली ।। ७–८ ।।

लङ्काद्वीप के राजाओं का जम्बुद्वीप के राजाओं से सामयिक तुलनाक्रम–अजातशत्रु के राज्यकाल के आठवें(८) वर्ष में राजा विजय इस लङ्काद्वीप में आये थे । तथा उस अजातशत्रु के पुत्र उदयभद्र के राज्यकाल के चौदहवें (१४) वर्ष में उस (विजय) का देहावसान हुआ ।। ९ ।।

उदय के सोलहवें (१६) वर्ष के शासन में पण्डुवास राजा का अभिषेक हुआ। यों विजय एवं पाण्डुवास–दोनों राजाओं के मध्य ॥ १० ॥

यह ताम्रपर्णी राज्य एक वर्ष तक विना राजा के ही रहा। (बिम्बिसार की परम्परा में हुए) राजा नागदास के शासनकाल के इक्कीसवें (२१) वर्ष में पण्डुवास (विजय के भाई सुमित्र का पुत्र) जम्बुद्वीप से लङ्काद्वीप आया ॥ ११ ॥

नागदास के शासनकाल के सत्तरहवें (१७) वर्ष में ही अभय का राज्याभिषेक हुआ। इसने चौबीस (२४) वर्ष राज्य किया ॥ १२ ॥

चन्द्रगुप्त के शासनकाल के चौदहवें वर्ष के शासनकाल में पाण्डुक का देहावसान हुआ। तथा इसी चन्द्रगुप्त के शासनकाल के चौदहवें वर्ष में ही मुटशिव का राज्याभिषेक हुआ ॥ १३ ॥

अशोक के राज्यकाल के सत्तरह (१७) वर्ष बीतने पर मुटशिव का देहावसान हुआ ॥ १४ ॥

देवानाम्प्रिय तिष्य–तथा उसी वर्ष हेमन्त ऋतु के दूसरे मास में उत्तर आषाढ़ नक्षत्र में देवानाम्प्रिय तिष्य का ताम्रपर्णी में राज्याभिषेक हुआ ॥ १५ ॥

उसका शासन काल इतना ऋद्धिसम्पन्न था कि उसी समय, छात पर्वत के नीचे वाले प्रदेश में **वेणुयष्टि** पैदा हुई। फिर एक श्वेतवर्णा **रजतयष्टि**, जो कि सुनहरे रंग की थी, पैदा हुई ॥ १६ ॥

फिर एक **पुष्पयष्टि** भी पैदा हुई जिस में नीले, पीले, लाल, श्वेत एवं चमकीले (प्रभास्वर) काले, शोभासम्पन्न फूलों के गुच्छे लगे हुए थे ॥ १७ ॥

फिर भी,वह पुष्पयष्टि 'द्विजयष्टि' कहलाती थी। क्योंकि जिस समय जिस वर्ण के द्विज पैदा होते थे उसी वर्ण की वह द्विजयष्टि भी होती थी ॥ १८ ॥

साथ ही (उसके शासनकाल में) हाथी, घोड़े, रथ, पदाति, आँवला, कङ्कण, अंगूठी एवं ककुध (पाकड़) फल के समान मोटे मोती भी –यों आठ प्रकार के पैदा हुए ॥ १९ ॥

देवानाम्प्रिय तिष्य के राज्याधिरोहण के बाद ही उसके पुण्य प्रताप से मलय (पर्वत) प्रदेश में तीन अमूल्य मणियाँ निकलीं ॥ २० ॥

छातपर्वत के मूल में, तीन यष्टियाँ और समुद्र से आठ प्रकार के मोती भी निकले । इन, पर्वत प्रदेश में उत्पन्न, राजाओं के पास ही रहने योग्य मणि आदि को वहाँ के रहने वाले नागरिकों ने देवानाम्प्रिय तिष्य के पास पहुँचा दिया ॥ २१ ॥

इन महँगे अमूल्य, अनुपम एवं अतुलनीय अत एव दुर्लभ रत्नों को देख कर राजा आश्चर्यचकित रह गया ॥ २२ ॥

इन्हें देखकर प्रसन्नचित्त राजा ने यह कहा--"मैं अच्छी जाति एवं कुल में उत्पन्न होकर राजा बना हूँ । मेरे पूर्वजन्म के कर्मों के पुण्य का ही यह फल है कि मुझे यह अयाचित दुर्लभ एवं अनमोल सम्पदा उपलब्ध हुई है ॥ २३ ॥

"यह जो मैने पूर्वजन्मों के पुण्य फल से अमूल्य सम्पदा प्राप्ति की है इसे इस संसार में मैं ही प्राप्त कर सकता था । किसी दूसरे को इस का मिलना असम्भव था। यह संसार में रहने का एक आलम्बन है । इस के विना कौन जीवित रह सकता है ! यह तो मेरे हृदय में स्थान बना बैठी है" ॥ २४ ॥

तब राजा देवानाम्प्रिय तिष्य को अपने माता-पिता, भाई, नाती, रिश्तेदार (सम्बन्धी) मित्र सभी के विषय में सोचते हुए महाराज धर्माशोक का स्मरण हो आया ॥ २५ ॥

ये दोनों राजा–देवानाम्प्रिय तिष्य एवं महाराज धर्माशोक, दोनों परस्पर मित्र थे, सहायक थे, एक-दूसरे का हित चाहते थे । यद्यपि इन दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे को नहीं देखा था ॥ २६ ॥

तब राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने सोचा–"जम्बुद्वीप का अधिपति, महापुण्यवान् महाराज धर्माशोक मेरा प्रिय मित्र है, यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है ॥ २७ ॥

वही इन अमूल्य रत्नों का उपहार पाने योग्य है, मैं भी उसे ही यह सब कुछ दे सकता हूँ; क्योंकि वह धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु है" ॥ २८ ॥

तब उसने अपने उच्चतम अधिकारी मन्त्री को तत्काल आज्ञा दी-" अरे अधिकारिन्! तुम शीघ्रता से इस रत्नराशि को ले जाकर जम्बुद्वीप के पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में मेरे मित्र राजा धर्माशोक की सेवा में उपहारस्वरूप (भेंट में) दे आओ" ॥ २९ ॥

एतदनन्तर अपने महाअरिष्ट नामक प्रधानमन्त्री, साल ब्राह्मण (पुरोहित) एवं परन्तपर्वत नामक गणक एवं सेनापति-इन चार अधिकारी पुरुषों को ॥ ३० ॥

ये तीन तरह की मणियाँ, आठ बृहदाकार मोती, तीन प्रतोद (चाबुक) के आकार वाली यष्टियाँ, उत्तम रत्न ॥ ३१ ॥

साथ ही अन्य बहुमूल्य रत्नराशि के साथ राजा देवानम्प्रिय तिष्य ने अमात्य सेनापति अरिष्ट, साल, परन्तपर्वत एवं पुत्र तिष्य को गणक के रूप में, उनके हाथ छत्र, चामर,शङ्ख, वेष्टन, कर्णाभूषण ॥ ३२-३३ ॥

पवित्र नदियों का जल, जलपात्र (भृङ्गार), नन्द्यावर्त शङ्ख भिजवाये तथा साथ ही राज्याभिषेक के लिये बधाई सन्देश आदि भिजवाये ॥ ३४ ॥

साथ ही बिना धोये (नवीन) वस्त्रयुगल (धोती जोड़ा), श्रेष्ठ रुमाल (हाथ पोंछना) महँगा हरिचन्दन, लाल मिट्टी ॥ ३५ ॥

हरीतकी एवं माला-ये वस्तुएँ सङ्घ के लिये भिजवायीं। साथ ही उसने यह निवेदन भी किया-"दान देने के लिये 'बुद्ध' ही सर्वश्रेष्ठ है। वैराग्येच्छुकों के लिये बुद्धोपदिष्ट 'धर्म' ही श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

इसी तरह, पुण्य कर्मों की उत्पादभूमि एकमात्र 'सङ्घ' ही है। ये तीन ही देवताओं सहित इस लोक में सर्वश्रेष्ठ हैं। अतः मैं भी इन तीनों को शुभ फल-प्राप्ति हेतु एवं राजा को भी प्रणाम करता हूँ" ॥ ३७ ॥

यों वे राजा के दूत के रूप में चारों अधिकारी पाँच मास तक निरन्तर पाटलिपुत्र में ससम्मान रहे । फिर महाराजा धर्माशोक द्वारा बदले में दिये गये उपहारों को लेकर ॥ ३८ ॥

वैशाख मास की द्वादशी तिथि को जम्बुद्वीप से यहाँ (लङ्काद्वीप में) आ गये तथा महाराज धर्माशोक द्वारा प्रेषित अभिषेकराशि से राजा देवानाम्प्रिय तिष्य का पुनः (दुबारा) राज्याभिषेक किया ॥ ३९ ॥

राजा का यह द्वितीय अभिषेक वैशाखमास के उपोसथ (पूर्णिमा) के दिन हुआ ॥ ४० ॥

पुनः इस अभिषेकोत्सव के एक मास बाद, ज्येष्ठ मास के उपोसथ (पूर्णिमा) के दिन पुरुषश्रेष्ठ महेन्द्रस्थविर लङ्का में पधारे ॥ ४१ ॥

राजा का अभिषेक वर्णन समाप्त ॥

एकादशपरिच्छेद समाप्त ॥

एकादश भाणवार भी समाप्त ॥

(इस कथा के विस्तृत एव तुलनात्मक अध्ययन के लिये 'महावंश' ग्रन्थ का एकादश परिच्छेद भी द्रष्टव्य है । --अनु०)

बारहवाँ परिच्छेद

(जम्बुद्वीप से महेन्द्रस्थविर का आगमन)

राजा को उपहार—चँवर, राजमुकुट (उष्णीष), खङ्ग, छत्र, चरणपादुका, वेष्टन (कमरपट्टा), सारपामङ्ग (कण्ठहार), जलपात्र, नन्द्यावृत्त शङ्ख ॥ १ ॥

पालकी (शिविका), गङ्गा सहित पवित्र नदियों का जल, बिना धोया (अधौत=नवीन) वस्त्रयुगल (धोती-जोड़ा), (भोजनहेतु) सोने की थाली, चम्मच (कटच्छु), महँगा रुमाल ॥ २ ॥

अनवतप्तदह से लाये गये जल से भरा घड़ा, उत्तम चन्दन, लाल मृत्तिका, नागराज द्वारा प्रेषित अञ्जन का कुछ भाग ॥ ३ ॥

हरीतकी, आमला, अमृता औषध (गिलोय), साठ (६०) वाह (धान का एक माप) सुगन्धित एवं शुकों द्वारा लाया गया शालि धान आदि सभी सामग्रियाँ, जो कि उन्हें भी अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से ही मिली थीं, धर्मराज अशोक ने देवानाम्प्रिय तिष्य के पुनः राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर भिजवायीं ॥ ४ ॥

राजा को सन्देश—और साथ ही एक महत्वपूर्ण सन्देशपत्र भी राजा के नाम भिजवाया—"मैंने बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ की शरण ग्रहण कर ली है, मैं शाक्यपुत्र के शासन में उपासक बन गया हूँ ॥ ५ ॥

"आप भी अपने चित्त में उन तीनों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर लें । तथा उन की शरण ग्रहण कर ले । क्योंकि इन तीनों की शरण में जाना एवं इस धर्म का उपासक बनना ही लोक में सर्वश्रेष्ठ कर्म है" ॥ ६ ॥

यों पूर्ण सम्मान(=सम्भावना) के साथ महान् यशस्वी महाराज अशोक ने उन देवानाम्प्रिय तिष्य के दूतों के साथ वह उपहार-सामग्री भिजवायी[1] ॥ ७ ॥

महेन्द्र को लङ्का जाने हेतु सङ्घ का आदेश—पाटलिपुत्र के श्रेष्ठ अशोकाराम विहार में एकत्र हुए बहुत से ऋद्धिसम्पन्न स्थविरों ने लङ्काद्वीप पर अनुकम्पाहेतु महेन्द्र स्थविर को यों कहा— ॥ ८ ॥

"महापुण्य! लङ्काद्वीप में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का समय आ गया है । अतः आप लङ्का द्वीप जा कर वहाँ के निवासियों में धर्मोपदेश द्वारा धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करें" ॥ ९ ॥

पण्डित, शास्त्रमर्मज्ञ, द्वीप में धर्म ज्योति फैलाने वाले उन महेन्द्रस्थविर ने सङ्घ का उक्त आदेश सुनकर अपनी भिक्षुमण्डली के साथ लङ्काद्वीप जाना स्वीकार कर लिया ॥ १० ॥

और सङ्घ के सम्मुख चीवर को एक कन्धे पर करते हुए हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए प्रणाम कर महेन्द्रस्थविर ने लङ्का-द्वीपगमन की स्वीकृति दी ॥ ११ ॥

महेन्द्र का लङ्का द्वीप को प्रस्थान–उस समय महेन्द्र स्थविर सङ्घ में 'सङ्घ-स्थविर' का पद प्राप्त कर चुके थे तथा इट्टिय, उत्तिय, भद्रशाल एवं सम्बल ॥ १२ ॥

एवं छह अभिज्ञाओं से युक्त, ऋद्धिसम्पन्न सुमन ये पाँचों भिक्षु 'महास्थविर' बन चुके थे ॥ १३ ॥

ये छह स्थविर अशोकारामविहार से निकल कर, साथ-साथ क्रमशः चारिका करते हुए, यथासमय विदिशा नगरी पहुँचे । वहाँ विदिशागिरिविहार मे यथाभीष्ट विश्राम कर ॥ १४ ॥

अपनी माता को धर्मोपदेश कर उन्हें त्रिशरण एवं पञ्चशील में परिनिष्ठित कर तथा द्वीपवासियों की धर्म एवं सङ्घ में श्रद्धातिरेक उत्पन्न कर ॥ १५ ॥

महेन्द्र स्थविर ने सायङ्काल एकान्त समाधि से उठ कर लङ्काद्वीप गमन के औचित्य एवं अनौचित्य पर चिन्तन किया ॥ १६ ॥

तब, देवेन्द्र शक्र, स्थविर का यह सङ्कल्प जान कर, स्थविर के सम्मुख प्रकट हुए, और यों बोले–॥ १७ ॥

"हे महान् शक्तिसम्पन्न! आप के लिये यही उचित अवसर है कि आप लङ्का द्वीप की जनता में धर्म के प्रति श्रद्धोत्पाद हेतु वहाँ पधारें । आप द्वीप के प्राणियों पर अनुकम्पा करने के लिये शीघ्र ही वहाँ पधारे ॥ १८ ॥

"आप लङ्का द्वीप जाइये और वहाँ के प्राणियों को धर्मोपदेश कीजिये । वहाँ भगवदुपदिष्ट आर्यसत्यचतुष्टय का उपदेश कीजिये जिससे वे भवबनन्धन से मुक्त होने में सफल हो सकें ॥ १९ ॥

"इस तरह आप लङ्काद्वीप में भगवान् बुद्ध की धर्मज्योति प्रज्वलित करें । आप के लङ्कागमन के विषय में भगवान् ने तो पहले ही कह रखा है । अब सङ्घ ने भी इसका अनुमोदन कर दिया है ॥ २० ॥

"मैं भी वहाँ जाने पर आप की सेवा करता रहूँगा । मैं आपके गमन की सब व्यवस्था कर दूँगा । अतः आप का वहाँ पधारने के लिये यही उचित समय है" ॥ २१ ॥

यों देवराज का कथन सुनकर द्वीपद्योतक महेन्द्र स्थविर ने भी सोचा-"मेरा लङ्काद्वीप जाना भगवान् द्वारा भी आज्ञप्त है तथा भिक्षुसङ्घ द्वारा भी अनुमोदित है ॥ २२ ॥

इन्द्र भी अभी इस विषय में मुझको उत्साहित कर गये हैं । अतः मुझे ताम्रपर्णी (लङ्काद्वीप) जाना ही चाहिये । वैसे ताम्रपर्णी के निवासी नागरिक भी सरल हृदय हैं ॥ २३ ॥

वे बुद्धधर्म में उपदिष्ट आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के उपदेश को न सुनें-ऐसा नहीं है । वह उपदेश तो हितकारक एवं सुखदायक तथा समझने में सरल है । अतः मैं उन्हें लङ्कावासियों को धर्मोपदेश करने के लिये जाऊँगा ही" ॥ २४ ॥

ये अशोक के पुत्र महेन्द्र उचित अवसर और समय के ज्ञाता थे । अतः उन्होंने लङ्कागमन का यही उचित अवसर जान कर अपने गण (साथियों) से कहा-॥ २५ ॥

उसके गण (मण्डली) में ये भिक्षु थे-स्वयं महेन्द्र उस गण के प्रमुख थे उनके चार गुरुभाई तथा श्रामणेर सुमन, उपासक भण्डुक, ये छह लोग थे ॥ २६ ॥

ये सभी (६) षडभिज्ञ एवं ऋद्धिसम्पन्न थे । इन को महेन्द्र ने धर्मोपदेश द्वारा प्रोत्साहित कर अन्त में-"आओ, साथियो! श्रेष्ठ लङ्काद्वीप चला जाय ॥ २७ ॥

वहाँ धर्मोपदेश द्वारा लङ्का की जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ायेंगे । यों हमारे धर्म की भी अभिवृद्धि होगी"-यह कहा ।

साथियों ने "ठीक है" कह कर गमनहेतु अपनी प्रसन्नता प्रकट की ॥ २८ ॥

इसी समय-"पधारिये, भन्ते! अब लङ्काद्वीप चलने का उचित अवसर आ गया है । उधर लङ्का का राजा भी मिश्रक पर्वत पर मृगया (आखेट) हेतु आयगा" ॥ २९ ॥

समाधि में बैठे महेन्द्र स्थविर को देवराज इन्द्र (=वासव) ने यह बात कही ॥ ३० ॥

तब महेन्द्र स्थविर ने सोचा–"इस विदिशागिरि में रहते हुए हमने तीस (३०) रात्रियाँ सुखपूर्वक बितायीं । अब लङ्का चलने का उचित अवसर आ गया है, अतः तत्काल वहाँ चला जाय"॥ ३१ ॥

यों सोच कर वे छहों भिक्षु जम्बुद्वीप में अन्तर्हित (प्रलीन) होकर, आकाश में हंसपक्षी की तरह सरलता से उड़ते हुए उस मिश्रकूट पर्वत पर जा उतरे ॥ ३२ ॥

वह पर्वत नगर के समीप काले (जल वाले) मेघ की तरह शोभायमान था । उसी पर्वत के शिखर पर वे भिक्षु हंस की तरह सरलता से उतर गये ॥ ३३ ॥

वहाँ १. सङ्घस्थविर महेन्द्र, २. इट्टिय, ३. उत्तिय, ४. भद्रशाल, ५. सम्बल– ये पाँच भिक्षु, छठा सुमन श्रामणेर एवं सातवाँ भण्डुक उपासक–ये सात लोग धर्मप्रचार के लिये (भगवान् बुद्ध के बाद) सर्वप्रथम ताम्रपर्णी द्वीप में आये ॥ ३४–३५ ॥

वहाँ स्थविर महेन्द्र (जम्बुद्वीप से) हंसों की तरह आकाश में उड़कर नगर के सम्मुख काले मेघ के समान शोभित मिश्रक पर्वत के शिखर पर हंस पक्षी की तरह ही उतरे ॥ ३६ ॥

महेन्द्र के लङ्का-आगमन का कालसङ्केत–उस समय ताम्रपर्णी पर राजा मुटशिव के पुत्र राजा देवानाम्प्रिय तिष्य राज्य करते थे । यह समय वह था जब राजा धर्माशोक अपने शासन का अट्ठारहवाँ (१८) वर्ष बिता रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

और राजा देवानाम्प्रिय तिष्य को, महेन्द्र के लङ्का-आगमन के समय, लङ्का पर शासन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत (पूर्ण) करने में केवल सात मास अवशिष्ट थे । उस समय महेन्द्र स्थविर लङ्काद्वीप में पधारे थे ॥ ३९ ॥

(दूसरी तरह, इस काल का संकेत किया जाय तो वह यह है--)

ग्रीष्म ऋतु के छठे मास में या यों कहिये कि वर्ष के छठे उपोसथ के दिन ये महेन्द्र गणप्रमुख मिश्रक गिरि के शिखर पर उतरे थे ॥ ४० ॥

उधर इसी समय राजा देवानाम्प्रिय तिष्य आखेट खेलते हुए मिश्रक पर्वत के पास आ निकले । उस अवसर पर कोई देवता गोकर्ण (नीलगाय, मृगविशेष) के रूप में राजा को दिखायी दिया ॥ ४१ ॥

राजा ने गोकर्ण (मृग) को देख कर शीघ्रता से उसका पीछा किया । उसका पीछा करते-करते वह राजा पर्वत के ऊपर चला गया ॥ ४२ ॥

वहाँ जाकर वह मृगरूप देवता अन्तर्हित हो गया । उसके बदले में राजा ने स्थविर को वहाँ विराजमान देखा । उन्हें अचानक देखकर राजा भयभीत हो गये ॥ ४३ ॥

स्थविर महेन्द्र यह सोचकर राजा के सामने एकाकी प्रकट हुए थे--"यह राजा अकेला ही एकाकी मुझ को देखे, क्योंकि एक को देखकर कोई अकेला आदमी भयभीत नहीं होता । इसकी सेना के आ जाने पर इसके सामने अन्य भिक्षुओं को भी प्रकट किया जायगा" ॥ ४४ ॥

वहाँ स्थविर ने राजा ने आखेट में रौद्र रूप से मृग का पीछा करते हुए देखा, तब स्थविर ने राजा को उसके नाम से सम्बोधित करते हुए कहा--"आओ, तिष्य! " ॥ ४५ ॥

"यह काषाय वस्त्र धारण किये हुए, शिर मुँडाये हुए, सङ्घाटी (गाती) पहने हुए, अकेले, जिसके साथ में दूसरा कोई भी नहीं है, देवताओं के समान वाणी में मुझसे बात करने वाला कौन है?" (राजा ने पूछा--) ॥ ४६ ॥

(स्थविर ने उत्तर दिया--)"महाराज ! हम तो श्रमण (सन्त, भिक्षु) हैं, धर्मराज बुद्ध के मत को मानने वाले हैं । आप ही पर कृपा करने हेतु हम जम्बुद्वीप से यहाँ (लङ्का द्वीप में) आये हैं" ॥ ४७ ॥

यह सुन कर राजा अपने आयुध (धनुष्-वाण आदि) एक तरफ फेंक कर एक तरफ बैठ गया । एक तरफ बैठे उसने स्थविर से कुशल-मङ्गल एवं सुख--समाचार पूछा, तथा अन्य आवश्यक प्रासङ्गिक सार्थक बातें कीं ॥ ४८ ॥

स्थविर के वचन सुनकर (राजा) हाथ में लिये आयुध (शस्त्र) भूमि पर फेंक कर,तब स्थविर के पास जा कर उनसे कुशल-मङ्गल पूछ कर एक तरफ बैठ गया ॥ ४९ ॥

इसके कुछ ही क्षण बाद, उस राजा के साथ के सैनिक भी वहाँ आ पहुँचे । वे महास्थविर के चारों ओर बैठ गये, जोकि गणना में चालीस हजार (४०,०००) थे ॥ ५० ॥

इस तरह, सैनिकों के आ जाने पर, महास्थविर ने अपने गण के अन्य भिक्षुओं को भी प्रकट कर दिया । तब राजा समझ पाया कि स्थविर के साथ अन्य भिक्षु भी हैं ॥ ५१ ॥

(राजा के पूछने पर स्थविर ने उस को बताया) महाराज! (बौद्ध धर्म को मानने वाले) भगवान् बुद्ध के अगणित शिष्य हैं जो त्रैविद्य (त्रिपिटक के पारङ्गत) हैं, ऋद्धिसम्पन्न हैं, स्वचित्त से दूसरे की बात जानने वाले हैं, क्षीणास्रव हैं, ज्ञानी (अर्हत्) हैं ॥ ५२ ॥

तब महास्थविर ने **आम्र की उपमा**[1] से राजा के ज्ञान की तीक्ष्णता की परीक्षा की । एतदनन्तर, राजा को पण्डित जानकर महास्थविर ने राजा को चूळहत्थिपदोपम सुत्त (म॰ नि॰) के आधार पर धर्मोपदेश किया ॥ ५३ ॥

राजा वह उत्तम धर्मोपदेश सुनकर धर्म के प्रति श्रद्धालु होकर अपने चालीस हजार सैनिकों के साथ धर्म की शरण में आ कर उस महास्थविर का उपासक बन गया ॥ ५४ ॥

तब आप्तमना राजा ने सन्तुष्ट एवं प्रमुदित होकर भिक्षुसङ्घ को आमन्त्रित किया कि अब आप लोग नगर में पधारें ॥ ५५ ॥

परन्तु स्थविर ने उस सुव्रती, पण्डित, बुद्धिमान् राजा को उसके सैनिकों सहित अपने उत्तर से इतना सन्तुष्ट कर दिया कि वह स्थविर के प्रति पहले की अपेक्षा अधिक श्रद्धालु हो गया ॥ ५६ ॥

राजा की बात सुन कर महेन्द्र स्थविर ने यह उत्तर दिया-"राजन्! नगर में आप ही जाइये । हम तो यहीं ठहरेंगे" ॥ ५७ ॥

यों राजा को भेजकर, दीपद्योतक महेन्द्र स्थविर ने भिक्षुसङ्घ को बुला कर कहा-"हमें भण्डुक को प्रव्रजित करना है " ॥ ५८ ॥

वह भण्डुक उसी अवसर पर उपसम्पदा प्राप्त कर अर्हत्पद का लाभी हो गया ॥ ५९-६० ॥

(दूसरे दिन प्रातःकाल) पर्वत पर बैठे स्थविर ने (नगर से उन्हें लेने आये) सारथि को यह कहा-"यान पर चलना भिक्षुओं के लिये उचित नहीं है; क्योंकि भगवान् ने उसका निषेध किया है । अतः तुम जाओ । हम आ रहे हैं"॥ ६१ ॥

फिर महास्थविर अपने ऋद्धिबल से हंस की तरह आकाश में उड़कर राजप्रासाद के पास जा कर पृथ्वी पर उतरे ॥ ६२ ॥

वहाँ वे स्थविर पृथ्वी पर आकर, उनमें से कुछ अपने वस्त्र समेट रहे थे, कुछ वस्त्र पहन रहे थे। सारथि ने उन्हें ऐसा करते हुए देख कर उनका आगमन जान कर सन्तुष्ट हो कर राजा को इन स्थविरों का आगमन सूचित किया ॥ ६३ ॥

तब राजा ने सारथि को भेज कर उसके माध्यम से अमात्यों को आदेश दिया--"अन्तःपुर के मध्य मण्डप लगाओ ॥ ६४ ॥

और कुमार, कुमारियाँ, रनिवास की महिलाएँ, रानियाँ इनमें जो भी स्थविर के दर्शन करना चाहती हों वहाँ आकर उन का दर्शन कर लें " ॥ ६५ ॥

राजा का आदेश सुन कर, उसके उन उच्च कुलोत्पन्न अधिकारियों ने अन्तःपुर के मध्य वस्त्रों का मण्डप सजवाया ॥ ६६ ॥

वह मण्डप ऐसा था जिस पर शुद्ध, श्वेत एवं निर्मल वस्त्र आच्छादित था, जिसके चारों तपफ असङ्ख्य ध्वजाएँ लटकी हुई थीं, वह श्वेत वस्त्रों से अलंकृत था ॥ ६७ ॥

वहाँ मार्ग में सफेद बालू सर्वत्र बिखेर दी गयी थी। श्वेत पुष्प जहाँ तहाँ शोभित हो रहे थे। इस तरह वहाँ की भूमि ऐसी लग रही थी मानों हिम (बर्फ) से ढँकी हुई हो ॥ ६८ ॥

यों उस मण्डप को सर्वथा श्वेत वस्त्रों से अलंकृत कर भूमि को समतल कर अधिकारियों द्वारा राजा को सूचित किया गया ॥ ६९ ॥

"महाराज ! हमने मण्डप तो भली भाँति अलंकृत कर तैयार करवा दिया, अब वहाँ प्रव्रजितों के अनुकूल आसन कैसे विछाये जाँय?--इस विषय में आप आदेश दें " ॥ ७० ॥

इसी समय राजा का सारथि उन्हें यह सूचित करने के लिये आ गया--"देव! भिक्षुसङ्घ को यान पर बैठना भगवान् द्वारा निषिद्ध किया गया है ॥ ७१ ॥

"यह कितने आश्चर्य की बात है,देव! कि इनमें सभी स्थविर ऋद्धिसम्पन्न हैं । देखिये न, उन्होंने मुझको पहले भेजकर, वहाँ से मेरे बाद चलकर भी वे मुझसे पहले ही यहाँ पहुँच गये ॥ ७२ ॥

"देव! ऊँचे या महान् आसन पर बैठना भी इनके यहाँ निषिद्ध है । उन्हें भूमि पर बैठाने की ही व्यवस्था करें । वे स्थविर यहाँ आ चुके हैं" । सारथि के वचन सुन कर राजा और भी अधिक सन्तुष्ट हुआ ॥ ७३ ॥

राजा उन स्थविरों का स्वागत (अगवानी) कर, उन्हें प्रणाम कर, अत्यन्त प्रमुदित हुआ । सम्मान देता हुआ सङ्घस्थविर (महेन्द्र) का पात्र अपने हाथ में लेकर स्थविरों के साथ ॥ ७४ ॥

उनकी गन्धमाल्य से पूजाकर अन्त:पुर के प्रवेशद्वार तक ले आया । फिर वे स्थविर अन्त:पुर के प्रवेशद्वार पर बने हुए मण्डप में प्रविष्ट होकर ॥ ७५ ॥

अच्छे वस्त्र से आच्छादित भूमि में विछे हुए आसन देख कर प्रसन्न हुए और उन बिछे हुए आसनों पर विराजे ॥ ७६ ॥

विराजने पर, उन्हें जल (पात्र) दे कर, यागु एवं रुचिकर भोजन राजा ने अपने हाथ से परोसा ॥ ७७ ॥

भोजन कर चुकने पर स्थविरों को पात्र से हाथ हटाया हुआ जान कर राजा ने अन्त:पुर से अनुला देवी को बुला कर ॥ ७८ ॥

उससे कहा–"देवी! इस समय अवसर है, आप सङ्घ की उपासना कर लें । स्थविरों को प्रणाम कर इनकी यथेष्ट पूजा कर लो" ॥ ७९ ॥

तब अनुला देवी,पाँच सौ महिलाओं के साथ आ कर, स्थविरों को प्रणाम कर एक तरफ बैठ गयी ॥ ८० ॥

महागणी महास्थविर ने पेतवत्थु, विमानवत्थु एवं सच्चसंयुत्त (संयुत्तनिकाय) के बुद्ध-वचनों के आधार पर धर्मोपदेश किया ॥ ८१ ॥

उस उत्तम धर्मोपदेश को सुनकर उस के प्रभाव से वह अनुलादेवी उन पाँच सौ महिलाओं के साथ ही, स्रोतआपत्तिमार्गफल में प्रतिष्ठित हो गयी । ॥ ८२ ॥

बारहवाँ परिच्छेद पूर्ण ॥
बारहवाँ भाणवार भी पूर्ण ॥

(इस प्रकरण की विस्तृत कथा के लिये महावंस का तेरहवाँ परिच्छेद भी देखें । अनु०-)

तेरहवाँ परिच्छेद

(महाविहार- प्रतिग्रहण)

उसी समय राजप्रासाद के द्वार पर आकर पहले कभी न देखा गया विशाल जनसमूह कोलाहल (= महाशब्द) करने लगा ॥ १ ॥

उस कोलाहल को सुनकर राजा ने अपने अधिकारियों से पूछा–"यह कैसा कोलाहल है? ये इतने अधिक लोग यहाँ किस कारण से एकत्र हुए हैं?" ॥ २ ॥

अधिकारियों से बताया–"देव! यह इतना विशाल जनसमूह भिक्षु-सङ्घ के दर्शनहेतु यहाँ एकत्र हो गया है। यह जनसमूह सङ्घ का दर्शन न कर पाने के कारण इतना कोलाहल कर रहा है" ॥ ३ ॥

तब राजा ने कहा–"इतने जनसमूह के लिये यह अन्तःपुर तो कम पड़ेगा, अतः इस जनसमूह से कहो कि हस्तिशाला का स्थान सङ्घ के दर्शनहेतु अनुकूल पड़ेगा; अतः वह हस्तिशाला में पहुँच कर सङ्घ के दर्शनहेतु प्रतीक्षा करे। स्थविर वहीं पधारेंगे ॥"४ ॥

तब वे स्थविर भोजन कर चुकने के बाद, उस भोजन का धर्मोपदेश से अनुमोदन कर, आसन से उठकर, राजप्रसाद से निकल कर हस्तिशाला में पधारे ॥ ५ ॥

हस्तिशाला में जाकर वे दीप-प्रद्योतक महेन्द्र स्थविर बिछे हुए सुन्दर आसन पर विराजे ॥ ६ ॥

तब उन्होंने उस जनसमूह को देवदूतसुत्त (म० नि० ३-३) के माध्यम से धर्मोपदेश किया ॥ ७ ॥

वह धर्मप्राण जनसमूह उस **देवदूतसुत्त** के धर्मवचन में कहे गये देवदूत द्वारा उपभुक्त नरकयोनि के भयप्रद वर्णन को सुन कर अत्यधिक भयभीत हो उठा। तब स्थविर ने उस जनता को भयग्रस्त देखकर उसे चार आर्यसत्यों का उपदेश किया ॥ ८ ॥

यह उपदेश सुनने के बाद, हजारों धार्मिक जनों को धर्मलाभ हुआ। तब वह स्थविरगणसमूह हस्तिशाला में एकत्र जनसमूह से पृथक् होकर ॥ ९ ॥

राजाप्रासाद स्थित बहुत से पुरुषों को धर्माशीर्वाद से सन्तुष्ट करते हुए, राजघराने (प्रासाद) से चलकर, नगरके दक्षिण द्वार से निकल कर ॥ १० ॥

नगर से बाहर दक्षिण दिशा में 'महानन्दनवन' नामक राजोद्यान में जाकर महार्घ आसनों पर विराजमान हुआ ॥ ११ ॥

वहाँ बैठ कर भी धर्माधर्मकुशल महास्थविर ने उपस्थित जनसमूह को **बालपण्डितसुत्त** (म० नि० ३.३) के माध्यम से धर्मोपदेश किया ॥ १२ ॥

इससे उस महानन्दनवन राजोद्यान में उपस्थित जनसमूह में से हजारों प्राणियों को धर्मलाभ हुआ ॥ १३ ॥

उस अवसर पर, भले घरों की पत्नियाँ, कुमारियाँ, बहुएँ तथा पुत्रियाँ– सभी एकत्र होकर (= सङ्करिता) उन स्थविरों का शुभ दर्शन करने के लिये आयी ॥ १४ ॥

उन से धार्मिक संवाद करते हुए, अन्त में, स्थविर ने कहा–"यह सायङ्काल हो गया है, अब हमें चलना चाहिये।" यह सुनकर राजा ने निवेदन किया– "भन्ते! समय बहुत अधिक हो गया है, अब इतने समय गिरिव्रज कैसे पधारेंगे; क्योंकि वह यहाँ से बहुत दूर है ! अतः आप इसी उद्यान में आवास (रात्रि-विश्राम) करें ॥ १५ ॥

(स्थविर ने कहा–) "नहीं, राजन्! यहाँ से ग्राम बहुत समीप है,अतः रात्रि में भी कोलाहल होता रहेगा। जो कि हमारे समाधि-सुख के अनुकूल नहीं होगा, अतः हम उसी पर्वत पर (एकान्त में) रात्रि-विश्राम हेतु जायँगें। यह स्थान तो इन्द्रभवन के तुल्य है, जहाँ सदा जनसम्मर्द (भीड़) रहता है ॥ १६-१७ ॥

(तब राजा ने कहा–) "तो, भन्ते ! मेरा एक दूसरा 'महामेघवन' नामक उद्यान भी है, जहाँ जाने-आने की पूर्ण सुविधा है, वह नगर से न दूर है, न समीप ही ॥ १८ ॥

"दर्शन करना चाहने वाले पुरुषों के लिये आने में सुविधाजनक भी है और एकान्त भी; न दिन में कोलाहल होता है, न रात्रि में ही ॥ १९ ॥

"यह समाधि के लिये भी अनुकूल है, संन्यासियों के आवास (विश्राम) के लिये उपयोगी है। वहाँ रम्य वृक्षों की छाया है। पुष्प तथा फल वाले वृक्ष भी है। देखने में रमणीय है ॥ २० ॥

वह चारों तरफ दीवारों से घिरा हुआ है। उसमें बहुत से कमरे तथा बरामदे बने हुए हैं। उस रम्य उद्यान में राजा का आवास सर्वथा पृथक् है ॥ २१ ॥

"वहाँ एक अच्छी पुष्करिणी भी बनी है। जिसमें पाँचों तरह की कमल जाति के फूल खिले रहते हैं। उसका जल ठण्डा है, निर्मल है, स्वादु (मीठा) एवं सुगन्धमय है ॥ २२ ॥

"इस प्रकार मेरा वह (मेघवन) उद्यान सर्वथा रमणीय (रहने योग्य) है। सङ्घ के लिये सुविधाजनक है। अतः आप मुझ पर कृपा करते हुए उसी उद्यान में चलकर रात्रि-विश्राम करें" ॥ २३ ॥

राजा के ये निवेदनयुक्त वचन सुनकर,महेन्द्र स्थविर अपने गण (समूह) के साथ, अमात्य एवं अन्य राज्याधिकारी जनों से घिरे हुए वहाँ से मेघवनोद्यान में पधारे ॥ २४ ॥

यो, राजा द्वारा निवेदन किये जाने पर वे महेन्द्र स्थविर अपने समूह के साथ उस सर्वसुविधासम्पन्न महामेघवन उद्यान में आकर विराजे ॥ २५ ॥

उस राजा के आवासयोग्य उद्यान में, उन महेन्द्र स्थविर ने रात्रि में विश्राम किया। दूसरे दिन, राजा पुनः उन स्थविरों की सेवा में उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

वहाँ आकर राजा ने स्थविरों को सिर झुका कर प्रणाम किया और पूछा- "भन्ते! आप रात्रिपर्यन्त सुख से सोये ? आपको कोई असुविधा तो नहीं हुई?" ॥ २७ ॥

स्थविर बोले–" हाँ, राजन्! यह स्थान तो सर्वथा उपयुक्त रहा । ऋतु के अनुकूल भी, मनुष्यों से एकान्त भी, समाधि के लिये उपयुक्त भी तथा यहाँ शयन के लिये आसन भी सुविधाजनक रहे" ॥ २८ ॥

तब आप्तमना, हृष्ट-प्रहृष्ट एवं प्रसन्नचित्त राजा ने हाथ जोड़कर एवं हाथ में सोने की झारी से जल लेकर यों निवेदन किया–"भन्ते! मैं अपना यह रम्य मेघवन नामक उद्यान चारों दिशाओं से आगत भिक्षुओं को आवासहेतु (सङ्घ को) दान करता हूँ, इसे आप स्वीकार करें ॥ " २९-३० ॥

राजा के ये वचन सुनकर दीपप्रद्योतक महेन्द्र ने (भविष्य में) सङ्घाराम के निर्माणहेतु उस महामेघवन उद्यान को, राजा द्वारा दिये जाने पर, स्वीकार कर लिया ॥ ३१-३२ ॥

उस अवसर पर हर्षोन्माद के कारण पृथ्वी में कम्पन हुआ तथा अन्य अनेकविध गर्जन-तर्जन भी हुए । (अथ च–) क्योंकि यह मेघवन राजा तिष्य ने सङ्घ को दान किया था, अतः ॥ ३३ ॥

इस मेघवन का नाम 'तिष्याराम' रख दिया गया । यों उस देवानाम्प्रिय तिष्य राजा ने सङ्घ को यह प्रथम दान किया ॥ ३४ ॥

तब इस महामेघवन को सङ्घ का आराम (आवास) बनाते समय भी पृथ्वी में रोमाञ्चक कम्पन हुआ ॥ ३५ ॥

उस समय वहाँ उपस्थित राजासहित समग्र जनसमूह को रोमाञ्च हो उठा । उन सभी ने स्थविर से इस पृथ्वीकम्पन का कारण पूछा, तो स्थविर ने बताया –"यह लङ्का द्वीप में सङ्घ को प्रथम दान हुआ है, यह धर्म की स्थिरता में अत्यधिक सहायक होगा । इस लिये यह प्रथम पृथ्वी-कम्पन हुआ है । जिसे देखकर आप लोगों में भी, आश्चर्य करते हुए, रोमाञ्च हो उठा" ॥ ३६-३७ ॥

यह सुनकर जनता प्रमुदित होते हुए हवा में वस्त्र उछालने लगी कि ऐसा आश्चर्य तो इस नगर में पहले कभी नहीं हुआ था । तब, प्रसन्नचित्त राजा ने हाथ जोड़कर (करबद्ध) प्रणाम करते हुए ॥ ३८

द्वीपज्योतिर्भूत महेन्द्र स्थविर के हाथों में कुछ पुष्पगुच्छ दिये । स्थविर ने उन को आकाश में एक तरफ उछाल दिया ॥ ३९ ॥

तब भी पृथ्वी काँप उठी । उस समय यह द्वितीय भू-कम्प हुआ । इस आश्चर्य को देखकर, वहाँ उपस्थित जनतासहित राजा की सेना चिल्ला (उत्कृष्ट शब्द कर) बैठी कि अब यह द्वितीय भूकम्पन क्यों हुआ?" ॥ ४० ॥

राजाने श्रद्धा भाव से प्रसन्नतापूर्वक स्थविर से पूछा–"भन्ते! हमारा यह सन्देह भी दूर कीजिये कि यह द्वितीय भूकम्पन क्यों हुआ?" ॥ ४१ ॥

स्थविर बोले–"राजन्! यहाँ भी शासनयोग्य सङ्घ का स्थिर कार्य सम्पन्न होगा, इस स्थान पर **मालक** (चार दीवारों से घिरा स्थान, जहाँ भिक्षुओं के धार्मिक कृत्य सम्पन्न होते हैं) बनेगा ॥ ४२

तब राजा ने स्थविर को दूसरा पुष्प-गुच्छ उनके हाथ में अर्पित किया ॥ ४३ ॥

स्थविर ने वह पुष्पगुच्छ लेकर आकाश में दूसरी तरफ बिखेर दिया । उस समय भी पृथ्वी काँप उठी । यह तीसरा भूकम्पन हुआ ॥ ४४ ॥

राजा ने पूछा–" भन्ते! यह तीसरा भूकम्पन क्यों हुआ? आप हमारे इस सन्देह का भी निराकरण करे; क्योंकि आप इसमें कुशल हैं" ॥ ४५ ॥

स्थविर ने कहा–"राजन्! यहाँ भिक्षुओं के लिये उष्ण जल की पुष्करिणी बनेगी । भिक्षु यहाँ आकर अपना उष्ण जल से पूर्ण होने योग्य कार्य सम्पन्न करेंगे" ॥ ४६ ॥

यह सुन कर प्रसन्न होते हुए राजा ने स्थविर के करकमलों में जूही (जाति) के फूल रखें ॥ ४७ ॥

स्थविर ने वे पुष्प लेकर भी आकाश में दूसरी तरफ उछाल दिये । तब भी भू-कम्पन हुआ । यह चौथा भू-कम्पन था ॥ ४८ ॥

यह आश्चर्यमय कृत्य देखकर वहाँ एकत्र सभी विशिष्ट नागरिक हाथ जोड़कर स्थविर को प्रणाम करने लगे ॥ ४९ ॥

तब प्रसन्नचित्त राजा ने ही स्थविर से इस भू-कम्पन का कारण पूछा कि "किस लिये यह चौथा भू-कम्पन हुआ?" ॥ ५० ॥

"राजन्! पहले जिस अश्वत्थ (बोधि) वृक्ष के नीचे बैठकर सभी धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर शाक्यपुत्र गौतम 'बुद्ध' बने थे, वही बोधि वृक्ष लङ्का द्वीप के इस स्थान पर आकर लगेगा ॥ ५१ ॥

इसी हर्ष में प्रमुदित होकर यह पृथ्वी काँप रही है "यह सुनकर प्रसन्न राजा ने स्थविर के हाथों में एक दूसरा जातिपुष्प गुच्छ दिया । स्थविर ने उस पुष्पगुच्छ को भी आकाश में एक तरफ उछाल दिया । वह पुष्प-गुच्छ आकर पृथ्वी पर एक-तरफ आ गिरा ॥ ५२-५३ ॥

तब भी पृथ्वी में कम्पन हुआ । यह पाँचवाँ भू-कम्पन था । इस आश्चर्य को भी देखकर राजा सहित सैनिक एवं प्रजाजन प्रसन्न मन से आकाश में वस्त्र उछालने लगे । साथ ही राजा ने स्थविर से इसका भी कारण पूछा ॥ ५४-५५ ॥

(स्थविर ने कहा–) "राजन्! यहाँ भिक्षुजन प्रत्येक पक्ष में जो उपोसथ करते है उसके यहाँ स्थान बनेगा, तथा 'उपोसथगृह' कहलायगा" ॥ ५६ ॥

फिर राजाने स्थविर के हाथ में एक अन्य पुष्प-गुच्छ दिया ॥ ५७ ॥

स्थविर ने उसे भी आकाश में उछाल दिया। उस अवसर पर भी पृथ्वी में कम्पन हुआ। यह छठा भूकम्पन था ॥ ५८ ॥

यह आश्चर्य देखकर भी वहाँ उपस्थित जनसमूह हर्षविभोर होकर एक दूसरे को (अंगुलियों से) गोदते हुए यह कहने लगा कि कितनी प्रसन्नता की बात है कि यहाँ विहार बनेगा ! ॥ ५९ ॥

श्रद्धाचित्त राजा ने पुनः स्थविर से पूछा–"महाप्राज्ञ! अब यह छठा पृथ्वीकम्पन क्यों हुआ?"॥ ६० ॥

स्थविर ने कहा–"राजन्! भविष्य में जितने भी भिक्षु बाहर से यहाँ (इस नगर में) साङ्घिक (सामूहिक) लाभ के लिये आयेंगे उन्हें वह लाभ इसी स्थान पर एकत्र होने पर मिला करेगा" ॥ ६१ ॥

स्थविर का उत्तर सुनकर प्रसन्नचित्त राजा ने स्थविर के हाथों में एक अन्य पुष्पमुष्टि अर्पित की ॥ ६२ ॥

स्थविर ने वह पुष्पमुष्टि (फूलों का गुच्छा) भी आकाश में बिखेर दी। उस अवसर पर भी पृथ्वी काँपने लगी। यह सातवाँ भूकम्पन हुआ ॥ ६३ ॥

उस भू-कम्पन के समय भी सैनिक व नागरिक प्रमुदितचित्त होकर आकाश में वस्त्रखण्ड फेंक फेंक कर अपना हृदयोद्गार प्रकट करने लगे ॥ ६४ ॥

राजा ने पूछा–"भन्ते! अब यह सातवाँ भूकम्पन क्यों हुआ? इस का भी उचित व्याख्यान करें, जिससे हमारा सन्देह निराकृत हो सके"॥६५ ॥

स्थविर ने कहा–"जितने भी सदाचारी (= सुपेशल) भिक्षु इस आवास में विश्रामहेतु आयँगे उन को भोजनदान के लिये यहाँ एक वृहत् भोजनशाला बनेगी" ॥ ६६ ॥

तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥

तेरहवाँ भाणवार भी समाप्त ॥

चौदहवाँ परिच्छेद

(महाविहार-प्रतिग्रहण)

स्थविर के वचन सुनकर राजा पुनः श्रद्धातिरेक से प्रफुल्लित हो उठा । इस बार उसने चम्पक (चम्पा) पुष्प स्थविर के हाथों में रखे ॥ १ ॥

स्थविर ने उन चम्पक पुष्पों को भी आकाश में विकीर्ण कर दिया । वे पृथ्वी पर आ गिरे । इस अवसर पर पृथ्वी में कम्पन हुआ । यह पृथ्वी-कम्पन आठवीं बार हुआ ॥ २ ॥

इस आश्चर्यजनक कर्म देखकर भी राजा की सेना एवं नागरिक हर्षोद्गार के साथ आकाश में वस्त्र उड़ाने लगे ॥ ३ ॥

(राजा ने पूछा–)"महावीर श्रमण! यह आठवाँ पृथ्वी-कम्पन किस कारण हुआ? इसका विस्तृत हेतु बताइये, जिससे हम भी समझ सकें?" ॥ ४ ॥

(स्थविर बोले–)"महापरिनिर्वाण के समय भगवान् की आठ (८) द्रोण शरीरधातु एकत्र की गयी थीं । महाराज! उनमें से एक द्रोण शरीरधातु को कुछ ऋद्धिसम्पन्न भिक्षु इस लङ्का द्वीप में लायेंगे । उन शरीरधातुओं को स्तूप बनाकर यहाँ ससम्मान रखा जायगा । उस स्तूप के दर्शन से धर्मप्राण जनता के हृदय में धर्म के प्रति अधिक श्रद्धा बढ़ेगी तथा प्रेमोद्रेक होगा" ॥ ५-६ ॥

वहाँ एकत्र हुए सैनिक एवं नागरिक जन इस पृथ्वी-कम्पन पर हर्ष प्रकट करने लगे ॥ ७ ॥

दूसरे दिन स्थविर, तिष्याराम में रहते हुए, रात्रि व्यतीत होने पर, प्रातः-काल वस्त्र पहन कर, पात्र लेकर, नगर में जाकर, भिक्षाहेतु राजद्वार पर पहुँचे ॥ ८-९ ॥

वहाँ राजमहल में प्रवेश कर, आसन पर बैठकर भोजन कर, फिर धर्मानुमोदन के बाद राजमहल से निकलकर, नगर के दक्षिण द्वार की तरफ से निकल कर राजा के नन्दन उद्यान में पहुँचे ॥ १०-११ ॥

वहाँ पहुँचकर स्थविर ने अनुपम **अग्निस्कन्धोपमसूत्र** (सं० नि०, निदान-संयुत्त, ६.२) का उपदेश किया । उससे हजारों प्राणियों को धर्म-लाभ हुआ ॥ १२ ॥

यों, सद्धर्म का उपदेश देकर प्राणियों का हित करते हुए स्थविर आसन से उठकर पुनः तिष्यराम आ गये ॥ १३ ॥

वहाँ, रात्रि में विश्रामकर, रात्रि बीतने पर, तय्यार होकर वस्त्र पहन कर पात्र लेकर नगर में जाकर राजद्वार पर पहुँचे ॥ १४-१५ ॥

वहाँ राजमहल में प्रवेश कर, आसन ग्रहण कर, भोजन कर, अपने हाथ से पात्र धोकर, भोजन करने के बाद धर्मानुमोदन कर, नगर के दक्षिण द्वार से निकलकर, दिवाविहार के लिये उद्यान में पहुँचे ॥ १६-१७ ॥

वहाँ **आशीविषोपम सूत्र** ( ) पर प्रवचन करते हुए उन्होंने हजारों प्राणियों को धर्मलाभ कराया ॥ ॥ १८ ॥

यों, वहाँ सद्धर्म का उपदेश कर, आसन से उठकर पुनः तिष्याराम लौट आये ॥ १९ ॥

राजा ने धर्म के प्रति और अधिक श्रद्धालु होकर इस आठवें पृथ्वीकम्पन के विषय में स्थविर से पूछा ॥ २० ॥

"भन्ते! विहार तो प्रतिष्ठित हो गया, जो कि सङ्घ के लिये सभी सुविधाओं से सम्पन्न है तथा अभिज्ञापादक है; अब पुनः इस पृथ्वी-कम्पन का क्या कारण है?" ॥ २१ ॥

"राजन्! विहार के निर्माणमात्र से सङ्घाराम प्रतिष्ठित नहीं हुआ करता, जब तक कि उसकी बुद्ध द्वारा अनुमोदित सीमा न बाँध दी जाय ॥ २२ ॥

"समानसंवासक सीमा को, अविप्रवास (उपस्थिति) को, त्रिचीवर को तथा आठ सीमानिमित्तों के विषय में सब तरफ से कहकर ॥ २३ ॥

"सङ्घ में एकत्र होकर सभी भिक्षु कर्मवाचा (विनयपाठ) सुनाते हैं। यों बाँधी हुई सीमाएँ 'एकावास' कहलाती हैं ॥ २४ ॥

इसी सीमा के बन्धने पर कोई भी विहार स्थायी हो पाता है, एवं वहाँ का आवास सुप्रतिष्ठित होता है" ॥ २५ ॥

स्थविर द्वारा ऐसा कहे जाने पर, राजा ने फिर निवेदन किया–

"मेरे पुत्र, स्त्री, परिजन, अधिकारी–सभी आपका उपासकत्व स्वीकार कर चुके है तथा प्राण रहने तक आपके शरणागत हो चुके हैं ॥ २६ ॥

"हे महाऋद्धिबलशालिन्! मैं आप से एक ही निवेदन कर रहा हूँ कि इस सीमा में सज्जन, सभ्य नागरिकों को रहने की अनुमति अवश्य दें ॥ २७ ॥

इससे मैत्री एवं करुणाभावना से युक्त उन लोगों से इस विहार की रक्षा स्थायी हो सकेगी" ॥

(स्थविर बोले–)"राजन्! आपका यह महान् त्याग तुम्हें सीमा-बन्धन में स्वच्छन्दता प्रदान करेगा, अतः आप सीमा-रेखा निश्चित कर दें ॥ २८ ॥

अन्त में सीमा-बन्धन को प्रमाणित करने का कार्य इस त्यागाभिमान से रहित सङ्घ ही करेगा" ॥ २९ ॥

महापद्म एवं कुअर–नाम के दोनों माङ्गलिक हाथियों ने सुवर्णनिर्मित हल से प्रथम कुन्तमालक तक सीमा-रेखा खींच दी। इस अवसर चतुरङ्गिणी सेना एवं सङ्घ के साथ स्वयं राजा भी उपस्थित थे ॥ ३० ॥

उस सुवर्णमय हल से निकाली गयी सीमा-रेखा को देखते हुए राजा ने उसके साथ-साथ जलपूर्ण घट एवं नाना रंग की ध्वजाएँ फहरवायीं ॥ ३१ ॥

इन्हीं नाना रंग की ध्वजाओं से युक्त तोरण भी स्थान-स्थान पर बनवाये । और उसी सीमा के साथ विविध प्रकाशमय दीपमालाएँ भी प्रज्वलित करायीं ॥

नागरिकों की धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये राजा स्वयं, सङ्घ के साथ, नगर की प्रदक्षिणा कर कदम्ब नदी तट पर आये ॥ ३३ ॥

महासीमा को बाँधती हुई वह सुवर्णमय हल से खीची गयी रेखा जिस-जिस भू-प्रदेश से होती हुई कुन्तमालक तक गयी थी उस सीमा-रेखा को उसके साथ दूसरी रेखा खींच कर महाजनों (नागरिकों) की उपस्थिति में और भी अधिक दृढ़ (प्रामाणिक) बना दिया गया । इस अवसर पर एक बार पुनः भूकम्पन हुआ ॥ ३४-३५ ॥

वह आश्चर्यमय कृत्य देखकर उपस्थित सैनिक तथा नागरिक प्रमुदित होकर परस्पर एक दूसरे को गुदगुदाने लगे और कहने लगे कि अब यहाँ 'सीमाराम' भी बनेगा ॥ ३६ ॥

इस तरह इस सीमा-बन्धनकृत्य में राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने जो जो विधियाँ अपनायी थीं, वे सब उस ने सङ्घस्थविर के सम्मुख जाकर निवेदन कर दीं ॥ ३७ ॥

"भन्ते! मैने अपना कर्तव्य करते हुए इस कुन्तमालक की सीमा बाँध दी, जो कि विहार की स्थायिता में वृद्धि करेगी, एवं सङ्घ के लिये भी सुविधाजनक होगी । अब आप मुझ पर अनुकम्पा करते हुए सीमा को प्रमाणित कर दें ॥ ३८-३९ ॥

तब महास्थविर ने सङ्घ को आमन्त्रित किया और कहा—"आओ, भिक्षुओ! सीमा-रेखा बाँधे ।" तब उत्तराषाढ नक्षत्र में समग्र सङ्घ वहाँ एकत्र हुआ ॥ ४० ॥

उस समय उस चक्षुष्मान् महास्थविर ने सङ्घ की उपस्थिति में उस विहार की समानसंवासक सीमा बाँध कर उस की स्थिति सुदृढ़ की । यों वह श्रेष्ठ तिष्याराम विहार स्थायी हो गया ॥ ४१ ॥

फिर महास्थविर तिष्यारा‍म जाकर, रात्रि में विश्राम कर रात्रि के व्यतीत होने पर.. पूर्ववत्.. (गाथा सं १४ से १८वीं गाथा के पूर्वार्ध तक पाठ दोहरा ले) ॥ ४२-४६ ॥

यों प्रतिदिन **अनमतग्गियसुत्त** (सं. नि. ३.१.१०.७), **चरियापिटक** (खु० नि०) **गोमयपिण्डसुत्त** (सं० नि० ३.१.१०.४) एवं **धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त** (म० नि० ३.४.११) का महानन्दनवन में बैठ कर उपदेश किया ॥ ४७ ॥

इन्हीं सूत्रों के आधार पर सप्ताहपर्यन्त महास्थविर ने उपदेश किया । इससे आठ हजार (८000) भिक्षुओं को एवं पाँच सौ (५00) भिक्षुणियों को धर्मलाभ हुआ ॥ ४८ ॥

यों, इन सभी को उस उपदेश के प्रभाव से दीपज्योतिर्भूत महेन्द्र स्थविर ने भवबन्धन से मुक्ति दिला दी । तथा एक पक्ष (१५ दिन) पर्यन्त अपनी मण्डली-सहित उस तिष्यारा‍म में वास कर ॥ ४९ ॥

आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन वर्षा-काल समीप आने पर उन्होंने सभी साथी स्थविरों को बता दिया कि अब वर्षाकाल आ गया है ॥ ५0 ॥

महाविहार-प्रतिग्रहण-वर्णन सम्पूर्ण ॥

तब द्वीप के लिये ज्योतिर्भूत वे महेन्द्र स्थविर अपना शयनासन समेट कर, पात्र-चीवर लेकर तिष्यारा‍म से प्रस्थान कर गये ॥ ५१ ॥

फिर तय्यार हो कर, चीवर पहनकर भिक्षा-पात्र लेकर, पुनः नगर में प्रविष्ट हुए ॥ ५२ ॥

वहाँ से वे क्रमशः भिक्षा के लिये राजद्वार पर पहुँचे । वहाँ राजमहल में प्रविष्ट होकर यथाप्रज्ञप्त आसन पर विराजे ॥ ५३ ॥

उस आसन पर बैठकर भोजन कर, अपने हाथ से भिक्षा पात्र धोकर, अनुमोदना में **महासमयसुत्त** (म॰ नि॰) का उपदेश किया ॥ ५४ ॥

यों वे द्वीपज्योति महेन्द्र स्थविर राजा को धर्मोपदेश करने के बाद आसन से उठकर राजा से विना कुछ कहे-सुने चल दिये ॥ ५५ ॥

नगर के पूर्व द्वार से निकल कर वे महामण्डलीश्वर अनुगमन, करने वाले नागरिकों को लौटाकर, अकेले ही (मिश्रक) पर्वत की तरफ चल दिये ॥ ५६ ॥

वापस लौट कर उनमें से कुछ अधिकारियों ने राजा से आकर निवेदन किया–"देव! सभी स्थविर मिश्रक पर्वत चले गये" ॥ ५७ ॥

राजा, यह सुनकर, उद्विग्न होता हुआ, शीघ्रता से रथ जुतवा कर, रानियों सहित उसमें बैठकर ॥ ५८ ॥

पर्वत के नीचे गया, जहाँ वे महागणी महेन्द्र स्थविर शैवाल से भरे नगरचतुष्क नामक सरोवर में स्नान कर, जल पीकर वहीं एक शिला पर बैठ कर अपना आर्द्र (गीला) शरीर सुखा रहे थे ॥ ५९-६० ॥

राजा ने, ऐसी स्थिति में पाषाण शिला पर बैठे स्थविरों को, दूर से ही देख लिया । अतः रानियों को रथ में ही बैठी हुई छोड़कर, रथ से उतर कर ॥ ६१ ॥

स्थविरों के पास जाकर, उन्हें प्रणाम कर यह बोला–"भन्ते! सर्वसाधनसुलभ राष्ट्र एवं मेरे परिवार की उपेक्षा कर आप इस एकाकी (साधनविहीन) पर्वत पर क्यों चले आये?" ॥ ६२ ॥

"राजन्! हम यहाँ कम से कम तीन मास तक 'वर्षावास' करेंगे । फिर भले ही वह (वर्षावास) पहले मास (श्रावण) से हो, या बाद वाले (भाद्रपद) मास से हो। ऐसा ही भगवान् का आदेश है" ॥ ६३-६४ ॥

राजा ने कहा–"भन्ते! यदि आप आदेश दें तो मै यहाँ (इस पर्वत पर भी) वे सभी साधन उपलब्ध करा सकता हूँ जिनसे भिक्षुओं को सुविधा मिल सके ॥ ६५ ॥

अतः कृपया मुझे एतदर्थ कोई स्पष्ट आदेश दें ।" स्थविर ने कहा–"राजन्! भगवान् का स्पष्ट आदेश है कि भिक्षु को वर्षावास-काल में ग्राम से दूर या अरण्य में ही वास करना चाहिये । हाँ, इस विशेष समय में भी भगवान् ने बन्द दरवाजे के शयनासन स्थान में रह लेने की अनुमति दी है । भगवान् का यह अर्थयुक्त वचन सभी का हित-साधक है ॥ ६६ ॥

राजा ने स्थविर का अभिप्राय समझते हुए कहा–"भन्ते! मैं आज से ही यहाँ ऐसे भिक्षुओं के अनुकूल आवास बनाना प्रारम्भ करा दूँगा" ॥

यों कहकर उस महायशस्वी राजा ने आवास-निर्माण में गृहस्थों की दृष्टि (अनुकूलता) हटा कर वहाँ भिक्षुओं के अनुकूल आवास बनवा दिये ॥ ६७ ॥

एतदनन्तर, स्थविरों से कहा–"भन्ते! आप लोग कृपा कर इनमें वास करें । क्योकि यह लेण आप लोगों के अनुकूल बनाया गया है ॥ ६८ ॥

तब उस विहार की स्थिति सुव्यस्थित करने के लिये उन महामुनि महेन्द्र ने उस विहार की सीमा बाँध दी ॥

अरिष्ट की प्रव्रज्या– इसी समय राजा देवानाम्प्रिय तिष्य की बहन के पुत्र अरिष्ट नाम से प्रसिद्ध क्षत्रिय ने अपने पचपन (५५) साथी क्षत्रियों के साथ राजा के पास जाकर यह निवेदन किया– ॥ ६९-७०॥

"देव! हम पचपन (५५) साथी वरप्रज्ञ स्थविर के पास जाकर प्रव्रज्या लेना चाहते है, उन्हीं के अधीन रहकर धर्म की साधना करेंगे । कृपया आप हमें एतदर्थ अनुमति दें" ॥ ७१ ॥

उनकी यह सर्वसम्मत बात सुनकर राजा ने सन्तुष्ट होकर उन लोगों को स्थविरों के पास ले जाकर निवेदन किया ॥ ७२ ॥

"भन्ते! ये मेरे महाअरिट्ठ सहित पचपन अधिकारी आप से प्रव्रज्या की दीक्षा लेना चाहते हैं । इसके लिये इन को मैं अनुमति दे चुका हूँ । हे महाबलशालिन्! इन्हें आप प्रव्रज्या दें" ॥ ७३ ॥

राजा के वचन सुनकर उस महेन्द्र स्थविर ने भिक्षु-सङ्घ को आमन्त्रित किया और कहा-"आओ, भिक्षुओ! हम इस विहार की सीमा बान्ध दें ॥ ७४ ॥

एक साथ रहना, उपस्थिति, त्रिचीवर-इनको देखते हुए, विहार की स्थिरता हेतु सीमा बाँधी जाती है" ॥ ७५ ॥

तब तुम्ब(रु) मालक (चैत्यपर्वत) की सीमा एवं सीमान्तर को छोड़ उन महेन्द्र स्थविर ने इस विहार की महासीमा बतायी ॥ ७६ ॥

सम्पूर्ण मालक (भिक्षुओं द्वारा धर्मवाचन हेतु चार दीवार वाला स्थान) को सीमा में लेकर उस चक्षुष्मान् स्थविर ने इस विहार की स्थिरता के लिये तिष्य पर्वत पर यह दूसरा सीमा-बन्धन किया ॥ ७७ ॥

आषाढ़ मास की पूर्ण चान्दनी युक्त पूर्णिमा तिथि के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में उस पर्वत (स्थित विहार) की सीमा बाँधी गयी ॥ ७८ ॥

तब ताम्रपणी में सर्वप्रथम विहार के द्वितीय मालक में कुलेश्वर (सङ्घस्थविर) ने प्रवज्या दीक्षा दी ॥ ७९ ॥

साथ ही पचपन (५५) अन्य क्षत्रियों को भी वहीं प्रव्रज्या-उपसम्पदा दी गयी । उस प्रथम आराम में बत्तीस (३२) मालक थे ॥ ८० ॥

इसी तरह द्वितीय आराम में भी बत्तीस मालक थे । अवशिष्ट छोटे आराम एक-एक मालक के थे ॥ ८१ ॥

यों उस श्रेष्ठ पर्वत पर, आराम-विहार बनवा कर उस प्रथम वर्षावास के समय सभी बासठ (६२) भिक्षु प्रव्रज्या प्राप्त कर अर्हत्त्व को प्राप्त हुए ॥ ८२ ॥

चेतियपर्वतप्रतिग्रहण-वर्णन समाप्त ॥

चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥

चौदहवाँ भाणवार समाप्त ॥

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

(धातुस्तूपनिर्माण का उपक्रम)

भिक्षुओं का विचार– भिक्षुओं ने राजा से कहा–"ग्रीष्म ऋतु के आठवें मास में पूर्णिमा तिथि के उपोसथ के दिन जम्बुद्वीप से आये हम लोगों को इस पर्वत पर रहते हुए ॥ १ ॥

"पाँच मास बीत गये । तबसे हम इस पर्वत-सीमा से बाहर नहीं गये । अतः हे राजन्! (रथर्षभ!) हमें जम्बुद्वीप जाने की अनुमति दीजिये ॥ २ ॥

"यद्यपि हमें यहाँ अन्न, पान, निवास, ओढ़ने-बिछाने के सभी साधन सुलभ हैं; परन्तु गुरु (शास्ता) की शरण में गये विना क्या किसी को सुख मिल सकता है! या इस शरणगमन से किसी को कैसे कोई अनभिरति (उपेक्षा) हो सकती है!" ॥ ३ ॥

"वहाँ जम्बुद्वीप में अभिवादन, प्रत्युपस्थान, अञ्जलि (प्रणाम) आदि द्वारा गुरु (शास्ता) का दर्शन किये, महाराज! हमें बहुत समय बीत गया" ॥ ४ ॥

राजा द्वारा स्तूप निर्माण का सङ्कल्प– राजा न कहा–"भन्ते! मुझे तो ज्ञात नहीं था । आप आज्ञा दें । मैं यहीं उत्तम स्तूप का निर्माण करा दूँगा । आप तदर्थ भूमि का निर्णय कर दें मैं वहाँ स्तूप बनवा दूँगा" ॥ ५ ॥

तब सङ्घस्थविर ने सुमन श्रामणेर से कहा–"भो सुमन! तुम पाटलिपुत्र नगर जाओ, और वहाँ धर्मराज अशोक को हमारी तरफ से यह कहना–॥ ६ ॥

'महाराज! बुद्ध शासन के प्रति श्रद्धालु राजा देवानाम्प्रिय तिष्य आपके मित्र (सहाय) हैं, उन्हें आप भगवान् का अस्थ्यवशेष देने का कष्ट करें, ताकि वे यहाँ (लङ्काद्वीप में) उन पर एक उत्तम स्तूप बनवा सकें" ॥ ७ ॥

सुमन श्रामणेर का धातु-आनयन हेतु प्रस्थान– तब वे बहुश्रुत, श्रुतधर, शोभन वक्ता, बोलने में चतुर, ऋद्धिमान्, छहों पारमिताओं में पारङ्गत, पर्वत की तरह सुप्रतिष्ठित सुमन श्रामणेर ॥ ८ ॥

पात्र-चीवर लेकर उसी क्षण उस पर्वत से अशोक धर्मराज के पास चल दिये । वहाँ जाकर उन्होंने सङ्घ का सन्देश सम्राट् अशोक को जैसे का तैसा सुना दिया ॥ ९ ॥

उन्होंने कहा--"राजन्! मेरे उपाध्याय का सन्देश आप सुनें--"महाराज! बुद्धशासन में श्रद्धालु तथा आपके मित्र राजा देवानाम्प्रिय तिष्य यहाँ (लङ्काद्वीप में) 'धातुस्तूप' बनाना चाहते हैं, अतः आप उक्त पवित्र कार्य हेतु भगवान् का कुछ धात्वशेष दें" ॥ १० ॥

राजा अशोक द्वारा धातु-दान--राजा ने श्रामणेर का वचन सुनकर सन्तुष्ट होते हुए, उत्साहित मन से धातुपात्र दे दिया, और कहा-- "हे सुव्रत! आपका कार्य सम्पन्न हो गया, अतः शीघ्र ही पुनः लङ्का द्वीप लौट जाओ" ॥ ११ ॥

तब वह सुव्रत, एवं वाक्पटु सुमन श्रामणेर, वे पवित्र धात्वशेष लेकर, आकाश मार्ग से चलकर देवराज इन्द्र के पास पहुँचा ॥ १२ ॥

वह वाक्कुशल सुमन क्रमशः इन्द्र के पास पहुँच कर यों बोला--"देवराज, यह मेरे उपाध्याय का सन्देश आप सुनें--'बुद्धशासन में श्रद्धालु राजा देवानाम्प्रिय तिष्य लङ्का में धातुस्तूप का निर्माण करायेंगे, अतः उन्हें आप तदर्थ कुछ धात्वशेष दें" ॥ १३-१४ ॥

इन्द्र द्वारा दक्षिण अक्षक का दान-- सुमन के ये वचन सुनकर देवराज इन्द्र बहुत सन्तुष्ट हुए, साथ ही उन्हें भगवान् का दक्षिण अक्षक (गले की हंसुली की अस्थि) देकर कहा--"आप इसे लेकर शीघ्र ही पुनः लौट जाइये" ॥ १५-१६ ॥

यों, श्रामणेर सुमन इन्द्र के पास जाकर, उनसे दक्षिण अक्षक लेकर, पुनः तिष्य पर्वत की तरफ चल पड़े ॥

स्थविरराज[1] द्वारा प्रेषित वे लज्जावान्, सङ्कोची, गम्भीर, बुद्धिमान् सुमन पुनः उस उत्तम पर्वत पर पहुँचे ॥ १७ ॥

राजा द्वारा धातुओं का स्वागत--उसी समय, राजा अपने भाई तथा विशाल सेना के साथ इस श्रेष्ठ एवं अद्वितीय सङ्घ के पास भगवान् के धात्वशेष लेने के लिये आ पहुँचे ॥ १८ ॥

उस दिन चातुर्मास्य व्रत की अन्तिम पूर्णिमा का दिन था, जब वह महाबली राजा हाथी पर चढ़कर वहाँ आया ॥ १९ ॥

धातु-प्रतिष्ठापन--उस हाथी ने हर्षपूर्वक क्रौञ्चनाद किया । साथ ही नागरिकों द्वारा कांस्य धातु की बनी स्थालियाँ भी बजायी जाने लगीं, मुनि के सामने आते ही उसी क्षण यह महापृथ्वी भी काँप उठी ॥ २० ॥

शङ्ख एवं ढोल बजने लगे । दुन्दुभियाँ भी बजने लगी । राजा ने भी सामूहिक रूप से पुरुषश्रेष्ठ महान् शास्ता की (धातुओं की) पूजा की ॥ २१ ॥

तब वह मङ्गलहस्ती पीछे मुड़कर, धात्ववशेषपात्र के सामने से लौट पड़ा । तथा पूर्वाभिमुख द्वार से नगर में प्रविष्ट हुआ ॥ २२ ॥

वहाँ उपस्थित नर-नारियों ने सभी प्रकार के गन्ध द्रव्यों एवं माला-फूलों से उन धातुओं की पूजा की । तब वह श्रेष्ठ दक्षिण द्वार से निकल कर ॥ २३ ॥

वहाँ पहुँचा जहाँ कभी पहले पूर्वबुद्धों--ककुसन्ध, कोणागमन, एवं काश्यप--इन प्राचीन ऋषियों ने उस भूप्रदेश को पवित्र किया था ॥ २४ ॥

वह श्रेष्ठ मङ्गलहस्ती उस पवित्र भूमि पर आया और भगवान् के धात्ववशेषों राजा ने वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया ॥ २५ ॥

उस धात्वशेष-पात्र के भूमि पर प्रतिष्ठित होते ही, वहाँ उपस्थित देवता अत्यधिक प्रमुदित हुए । साथ ही यह पृथ्वी भी आश्चर्यमय एवं लोमहर्षक रूप से काँप उठी ॥ २६ ॥

स्तूपनिर्माण--यों भ्राता, अपनी सेना, अधिकारियों एवं नागरिकों सहित राजा के श्रद्धा प्रकट करने के बाद, ऋद्धिसम्पन्न श्रामणेर (सुमन) ने उस स्तूप के लिये ईंटें बनवानी प्रारम्भ कीं ॥ २७ ॥

स्तूप-महोत्सव--इसी बीच वहाँ उपस्थित अन्य क्षत्रियों ने भी उस उत्तम स्तूप स्थान की अनेक तरह से पृथक्-पृथक् पूजा की । उसे विविध रत्नों एवं धातु (-सुवर्ण-रजत) के बने दीपों से सजाया ॥ २८ ॥

उस पर श्वेतच्छत्र, ऐसे ही अनेक छत्र वैसे ही अलङ्कार तथा दर्शनीय चमर भी चढ़ाये ॥ २९ ॥

उस स्तूप-स्थान में चारों दिशाओं में जलायी गयी पंक्तिबद्ध दीपमालाएँ अत्यधिक शोभित हो रही थीं ॥ ३० ॥

ऊपर आच्छादित किये गये वस्त्रों तथा रंग-बिरंगी चित्तियों (वस्त्र की बनी वितान छतों) से, तथा मेघरहित आकाश से वह स्थान अपेक्षाकृत सुन्दर लग रहा था ॥ ३१ ॥

वहाँ रत्नमिश्रित बालुका बिखेर दी गयी थी। और सुनहरे वितान एवं चित्र-विचित्र सुवर्णमालाओं से आवृत छत्र लगा दिये थे ॥ ३२ ॥

अन्तःकथा[1]

(१) शास्ता सम्यक्सम्बुद्ध भगवान् ककुसन्ध चालीस हजार (४०,०००) ज्ञानियों (अर्हतों) परिवृत रहते हुए ॥ ३३ ॥

दिव्यचक्षु (ज्ञान) द्वारा करुणापूर्ण भावना से इस ओजद्वीप (लङ्काद्वीप) स्थित अभयपुर के वासी दुःखी मनुष्यों एवं प्राणियों को देखते रहते हैं ॥ ३४ ॥

तब वे वहाँ धर्म के प्रति श्रद्धालु जनों को धर्मोपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाते हैं। वे धार्मिकजन भी बुद्ध के आनुभाव से अपना ज्ञान विकसित करते रहते हैं; जैसे सूर्य के कारण पद्म विकसित हुआ करता है ॥ ३५ ॥

वे (भगवान्) चालीस हजार (४०,०००) भिक्षुओं से घिरे हुए अभ्युद्गत सूर्य की तरह ओजद्वीप (उस समय के लङ्का द्वीप) में आकर विराजे ॥ ३६ ॥

उस समय ककुसन्ध शास्ता थे, महादेव इनके प्रधान शिष्य थे, इनका उपदेश-स्थल देवकूट पर्वत था, लङ्काद्वीप का नाम ओजद्वीप था, इस नगर का नाम अभयपुर था, इसके राजा का नाम अभय था ॥ ३७ ॥

यह नगर कदम्बक नदी के पार बसा हुआ था । यह अत्यन्त रमणीय एवं मनोहर था । इसमें भोजन, आवास आदि की सभी सुविधाएँ थीं ॥ ३८ ॥

वहाँ 'पुण्णकनरक' नाम का एक कठिन ज्वर महामारी के रूप में सम्पूर्ण प्रदेश में फैल गया, जिसने लोगों का जीवन उसी तरह संशयग्रस्त कर दिया था; जैसे गले में काँटा फँसने पर मछली का जीवन संशयग्रस्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

भगवान् बुद्ध की कृपा से वह ज्वर स्वयं ही विलुप्त हो गया । फिर भगवान् द्वारा अमृतमय धर्म की देशना से वहाँ धर्म की प्रतिष्ठा हुई । जिसके प्रभाव से वहाँ उपस्थित चौरासी हजार प्राणियों को धर्मलाभ हुआ ॥ ४० ॥

उस समय उनके चैत्य का नाम 'धम्मकारक' एवं विहार का 'पटियाराम' रहा ॥ ४१ ॥

एक हजार भिक्षुओं से घिरे हुए वे नरश्रेष्ठ (अग्रपुद्गल) शास्ता अपने महादेव नामक प्रधान शिष्य को वहाँ प्रतिष्ठित कर अन्तर्हित हो गये ॥ ४२ ॥ (१)

(२) तीस हजार (३०,०००) भिक्षुओं से परिवृत शास्ता, सम्यक्सम्बुद्ध भगवान् (महामुनि) कोणागमन ॥ ४३ ॥

अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा करुणासहगत चित्त से इस दशसहस्री लोकधातु को विशेषतः इस द्वीप के दुःखी प्राणियों को देखते रहते थे ॥ ४४ ॥

बुद्ध, कृपा के माहात्म्य से इस द्वीप को धर्माभिमुख करने के लिये, धर्म के प्रति श्रद्धालु जनों के हृदय को, सूर्य के द्वारा विकसित हुए पद्म की तरह, विकसित करने के लिये ॥ ४५ ॥

वे सम्यक्सम्बुद्ध तीस हजार (३०,०००) भिक्षु-परिवार के साथ, आकाश में सूर्य की तरह, इस द्वीप में आकर प्रतिष्ठित हुए ॥ ४६ ॥

भगवान् कोणागमन जब इस द्वीप में समन्तकूट पर्वत पर आकर विराजे तब इस द्वीप पर समृद्ध नाम का राजा राज्य करता था ॥ ४७ ॥

उस समय द्वीप में दुर्वृष्टि (अकाल) पड़ी हुई थी, इस दुर्वृष्टि के कारण लोग दुर्भिक्ष के ग्रास बनते जा रहे थे अतः सदा भयभीत रहते थे । इन दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों की वैसी ही स्थिति हो गयी थी जैसे अल्प जल वाले तालाब में मछलियों की हो जाती है ॥ ४८ ॥

भगवान् कोणागमन के लङ्काद्वीप में पधारने पर, वह दुर्भिक्ष समाप्त हुआ और समय पर वर्षा होने लगी ।-जनपद का कुशल-क्षेम बढ़ गया । जनता आश्वस्त हो गयी ॥ ४९ ॥

उस समय तिष्यतड़ाग के पास, नगर के दक्षिण पार्श्व में 'उत्तराराम' नामक उनका विहार था और 'कायबन्धन' चैत्य था ॥ ५० ।

उनके द्वारा धर्मोपदेश किये जाने पर चौरासी हजार (८४,०००) धार्मिक जनता को धर्मलाभ हुआ । उन लोगों का हृदय उसी तरह प्रकाशित हो गया जैसे सूर्य के निकलने (उदित होने) पर लोक प्रकाशित हो जाता है ॥ ५१ ॥ (२)

(३) बीस हजार (२०,०००) भिक्षुओं से घिरे हुए सम्यक्सम्बुद्ध लोकनायक भगवान् काश्यप भी ॥ ५२ ॥

जो कि लोकज्ञ थे और देवलोकसहित सकल ब्रह्माण्ड को बुद्ध चक्षु (दिव्य-दृष्टि) से देखते रहते थे कि उसमें कौन धर्म के प्रति जिज्ञासा रखता है ॥ ५३ ॥

आहुतियों के प्रतिग्राहक, लोकज्ञ भगवान् काश्यप महाकरुणा से भावित चित्त होकर विवाद (कलह) से प्रकुपित (दुःखी) मण्डद्वीपवासी बहुत से ऐसे लोगों को देख रहे थे जो धर्म के जिज्ञासु थे । वे बुद्धतेज के प्रभाव से उनके चित्त को उसी तरह विकसित करने के लिये सन्नद्ध हुए जैसे सूर्य कमल को विकसित करने हेतु सन्नद्ध होता है ॥ ५४-५५ ॥

(उन्होंने निश्चय किया--) "मैं मण्डद्वीप (लङ्काद्वीप) जाऊँगा, वहाँ धर्मोपदेश द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा करूँगा । जैसे चन्द्रमा अन्धकार को विनष्ट कर देता है वैसे ही मैं धर्मोपदेश द्वारा वहाँ की जनता का अज्ञानान्धकार नष्ट कर दूँगा"।। ५६ ।।

(यह निश्चय कर) वहाँ से वे भिक्षुगण से परिवृत होकर आकाशमार्ग से मण्डद्वीप में जाकर उसी तरह प्रतिष्ठित हुए जैसे सूर्य आकाश में प्रतिष्ठित रहता है ।। ५७ ।।

उस समय भगवान् काश्यप सम्यक्सम्बुद्ध थे । उन का प्रधान शिष्य था 'सर्वनन्द' । उन्होंने जिस पर्वत पर निवास किया था उसका नाम था 'शुभकूट' । नगर का नाम था 'विशाल' । और उस नगर के राजा थे 'जयन्त' ।। ५८ ।।

उनके विहार का नाम था 'प्राचीनाराम', जो क्षेम तड़ाग के पास नगर के पश्चिम पार्श्व में बसा हुआ था । तथा चैत्य का नाम था 'दकसाटक' ।। ५९ ।।

इस तरह उन सम्यक्सम्बुद्ध ने वहाँ की धर्मप्रेमी जनता को आश्वस्त कर शासन की स्थापना की ।। ६० ।।

यों भगवान् द्वारा धर्मोपदेश किये जाने पर वहाँ की धर्मप्राण जनता में से चौरासी हजार (८४,०००) पुरुषों को धर्मलाभ हुआ ।। ६१ ।।

अन्त में भिक्षुगण से परिवृत (अपने शिष्य) महायशस्वी सर्वनन्द को उस मण्डद्वीप में प्रतिष्ठित कर भगवान् वहाँ से चल दिये ।। ६२ ।। (३)

(४) और ये जो (अन्तिम) लोकनायक भगवान् (गौतम बुद्ध) उत्पन्न हुए थे इन्होंने भी (द्वीप के) प्राणियों पर अनुकम्पा कर उत्तम धर्म का उपदेश किया ।। ६३ ।।

उन लोकज्येष्ठ, पुरुषश्रेष्ठ सम्यक्सम्बुद्ध ने भी जब दिव्यदृष्टि से देखा कि यहाँ (इस द्वीप में) नागों में परस्पर युद्ध हो रहा है, दोनों तरफ की सेना युद्धरत है ।। ६४ ।।

वे एक दूसरे के लिये विषमिश्रित धूआँ छोड़ रहे हैं, क्रोध के कारण उनके मुख से अग्नि ज्वाला निकल रही है । परस्पर वैर प्रकट कर रहे हैं । तथा एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं, इस कारण द्वारा भय का वायुमण्डल बन गया है, ये नाग परस्पर युद्ध कर द्वीप को नष्ट कर रहे हैं ॥ ६५ ॥

(तब उन्होंने सोचा–)" मेरे जाने से सम्भवतः उनमें एकता हो जाय, अतः मैं लङ्का द्वीप जाऊँगा, और वहाँ इन मामा एवं भानजा नागों का युद्ध समाप्त कराऊँगा" ॥ ६६ ॥

गौतम बुद्ध अपने समय में चैत्य पर्वत पर आकर ठहरे थे । उस समय अनुराधपुर लङ्का की राजधानी थी, तथा तिष्य नाम का राजा था ॥ ६७ ॥

कुसिनारा में मल्लों के उपवन में जब भगवान् महापरिनिर्वाणमञ्च पर उपधिक्षय के अनन्तर लेटे थे ॥ ६८ ॥

(उन्होंने भविष्यवाणी की थी–) "आज से दो सौ छत्तीस वर्ष व्यतीत होने पर महेन्द्र नाम का भिक्षु (लङ्का द्वीप में) शासन की समृद्धि हेतु जायगा ॥ ६९ ॥

नगर के दक्षिण भाग में 'स्तूपाराम' बनेगा । उस समय 'ताम्रपर्णी' नाम से यह द्वीप विख्यात होगा । उसी समय मेरी शरीर-धातु यहाँ ससम्मान प्रतिष्ठित होंगी" ॥ ७० ॥

अन्तःकथावर्णन समाप्त ॥

अनुला की प्रव्रज्याकांक्षा–बुद्ध में श्रद्धा रखती हुई, धर्म एवं सङ्घ के प्रति सम्मान की दृष्टि रखती हुई, संसार के प्रति स्वचित्त में वैराग्य भावना उत्पन्न करती हुई एक अनुला देवी नाम की क्षत्रियाणी थी ॥ ७२ ॥

उस देवी के वचन सुन कर राजा ने महास्थविर के पास जाकर निवेदन किया–"भन्ते! यह अनुला बुद्ध में श्रद्धा रखती हुई...पूर्ववत्....(७२वीं गाथा की तरह) इसे आप प्रव्रज्या-दीक्षा दें" ॥ ७३ ॥

सङ्घमित्रा के आह्वान हेतु निर्देश --(स्थविर बोले--) "महाराज! स्त्रियों को प्रव्रज्या देना भिक्षुओं के लिये निषिद्ध है । राजन्! मेरी बहन सङ्घमित्रा भिक्षुणी यदि यहाँ आ जाय तो वह अनुला देवी को प्रव्रज्या देकर सभी सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर सकती है ॥ ७४-७५ ॥

महाप्रज्ञ सङ्घमित्रा, कुशल उत्तरा, हेमा एवं मासगल्ला, मितभाषिणी अग्निमित्रा ॥ ७६ ॥

तप्पा, पर्वतच्छिन्ना, धर्मदासी, मल्ला--ये इतनी भिक्षुणियाँ धुताङ्गसम्पन्न एवं समाधिकुशल हैं ॥ ७७ ॥

ये शुद्ध मन सङ्कल्प वाली हैं, सद्धर्म एवं विनय में तत्पर हैं । क्षीणास्रव हैं एवं स्वकीय इन्द्रियों को अधीन किये हुए हैं । त्रैविद्य एवं ऋद्धिसम्पन्न हैं ॥ ७८ ॥

उत्तम प्रयोजन (निर्वाण) की प्राप्ति में लगी हुई हैं । ये ही भिक्षुणियाँ यहाँ आयेंगीं (वे इस देवी को प्रव्रज्या-दीक्षा देंगीं) " ॥

(यह सुनकर) राजा ने अपने अमात्य (अधिकारियों) को मन्त्रणा करने की इच्छा से बैठकर मन्त्रियों को आदेश दिया ॥ ७९ ॥

सङ्घमित्रा का आनयन--तब, अरिष्ट नामक क्षत्रिय राजा के वचन सुनकर तथा स्थविर का आदेश लेकर, उत्तराभिमुख चल दिया ॥ ८० ॥

उधर, नगर के एकान्त में आवास बनाकर अनुला आदि वे देवियाँ दश शील व्रत का अभ्यास करने लगीं ॥ ८१ ॥

ये सभी पाँच सौ (५००) कन्याएँ, उच्चकुलोत्पन्न एवं तेजस्वी थीं । ये अनुला को परिवृत कर प्रातः सायं एकत्र रहने लगीं ॥ ८२ ॥

ये सभी पाँच सौ (५००) कन्याएँ, उच्चकुलोत्पन्न एवं तेजस्वी थीं । ये अनुला को परिवृत कर प्रातः सायं एकत्र रहने लगीं ॥ ८३ ॥

उधर वह (अरिष्ट क्षत्रिय) नाव से बन्दरगाह पहुँचकर, बड़ी नौका (जलयान) में बैठकर, समुद्र को पार कर (जम्बुद्वीप की) भूमि पर उतरा ॥ ८४ ॥

फिर विन्ध्य वन पार करता हुआ, वह महाबलशाली महामात्य क्रमशः पाटलिपुत्र नगर पहुँच कर राजा (अशोक) के पास पहुँचा ॥ ८५ ॥

और राजा से उसने यह निवेदन किया--"देव ! आपके प्रियदर्शन पुत्र महेन्द्र स्थविर ने मुझ को आपकी सेवा में भेजा है ॥ ८६ ॥

"साथ ही, आपके प्रियदर्शन मित्र राजा देवानाम्प्रिय तिष्य ने भी मुझको आपके पास भेजा है, जो कि भगवान् बुद्ध के प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखते हैं ॥ ८७ ॥

उस सङ्घमित्रा के भाई महेन्द्र महर्षि ने यह सन्देश दिया है--"अनुला नाम की राजकन्या बुद्धधर्म में अत्यधिक श्रद्धासम्पन्न है ॥ ८८ ॥

"वह कुछ अन्य राजकन्याओं के साथ प्रव्रज्यादीक्षाहेतु उत्सुक है ।"
भाई का सन्देश सुनकर बुद्धिमती सङ्घमित्रा ॥ ८९ ॥

शीघ्र ही राजा के पास जाकर यह वचन बोली--"महाराज! मुझे लङ्काद्वीप जाने की अनुमति दीजिये ॥ ९० ॥

"मैं भाई का वचन (आदेश) नहीं टाल सकती । मेरा भागिनेय सुमन एवं आपके भी प्रिय मेरे भाई वहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं । भाई का वचन टालना मेरे लिये कठिन हो रहा है ॥ ९१-९२ ॥

"महाराज! अनुला देवी नामक राजकन्या भी प्रव्रज्या-दीक्षा ग्रहण करने हेतु वहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रही है" ॥ ९३ ॥

स्तूपनिर्माणोपक्रम-वर्णन समाप्त ॥

पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥

पन्द्रहवाँ भाणवार भी समाप्त ॥

सोलहवाँ परिच्छेद

(महाबोधि-आगमन)

बोधि का लङ्काद्वीप-प्रेषण–तब महाराज अशोक अपनी विशाल चतुरङ्गिणी सेना के साथ तथागत की बोधि (वृक्ष) लेकर चल दिये ॥ १ ॥

यों, तीन राज्यों को पार कर, विन्ध्य पर्वत के घोर जङ्गल को भी लाँघकर, क्रमशः समुद्र तट पर पहुँचे ॥ २ ॥

तब उस सङ्घश्राविका सङ्घमित्रा ने चतुरङ्गिणी सेना एवं महाबोधि के साथ समुद्र के मार्ग से लङ्काद्वीप की तरफ यात्रा प्रारम्भ की ॥ ३ ॥

उस समय, ऊपर देवताओं ने तथा नीचे मनुष्यों ने वाद्यध्वनि की । उस अवसर पर वहाँ की जनता दर्शनहेतु समुद्र तट पर आ गयी ॥ ४ ॥

बहुश्रुत, ऋद्धिसम्पन्न, शीलवान्, शरीर तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से समाहित, प्रियदर्शी राजा अशोक ने ऊपर देखकर उस महाबोधि को प्रणाम किया । और वह यों बोला– ॥ ५ ॥

"मैं आज इस वेला में दर्शन व स्पर्शन के लिये किसी को भी नहीं रोकूँगा" ॥ ६ ॥

यों अनेक तरह से विलाप एवं रुदन करते हुए महाबोधि का दर्शन कर वह राजा पुनः अपने नगर में लौट आया ॥ ७ ॥

देवताओं द्वारा बोधिपूजा—समुद्रवासी नागों ने, स्वर्ग के निवासी देवताओं ने, वृक्षों के अधिष्ठातृ देवताओं ने उस यात्रा के लिये सन्नद्ध बोधि को घेर लिया और इसी तरह, देखने में अप्रिय पिशाच, भूत, कुम्भाण्ड एवं राक्षसों ने भी पास आने पर उस को घेर लिया ॥ ८-१० ॥

इसी तरह, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति एवं वशवर्ती देवों ने भी तुष्ट, हृष्ट और प्रमुदित हो कर उसको घेर लिया ॥ ११ ॥

इन्द्र आदि तेतीस (३३) देवपुत्र भी, सभी बोधि के समीप आने पर अत्यधिक हर्ष प्रकट करते हुए भुजाओं से अपने शरीर का पार्श्व भाग बजाने लगे ॥ १२ ॥

कुबेर, धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष एवं विरूढक—ये चार महाराज (दिक्पाल) भी चारों तरफ की दिशाओं से वहाँ आकर लङ्का द्वीप जाती हुई बोधि को घेर कर खड़े हो गये। और बड़े-बड़े वाद्ययन्त्रों को बजाते हुए अपना हर्ष प्रकट करने लगे ॥ १३-१४ ॥

हर्षोत्सव— वे देवता बोधि के पास आनेपर हर्षोन्मत्त होकर स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीड़ा करने लगे। पारिजातक एवं मन्दार फूल बरसाने लगे ॥ १६ ॥

उस समय उन्होंने इतना दिव्य चन्दन-चूर्ण उड़ाया कि आकाश भी ढक गया। इस तरह उन देवताओं ने उस बोधि की नाना प्रकार से पूजा की ॥ १६ ॥

चम्पक, सरल, नीलपुष्प (कमल) प्रपुन्नाग एवं केतकी (केवड़ा) के फूलों से देवताओं ने उस जलयात्रा के लिये सन्नद्ध महाबोधि की पूजा की ॥ १७ ॥

इसी तरह, नागराज, नागकन्या एवं नागपुत्र आदि बहुत से प्राणी अपने अपने घरों से निकल कर उस बोधि की पूजा के लिये वहाँ आये ॥ १८ ॥

अनेक प्रकार के रंग-विरंगे परिधान पहने, नाना अलङ्कारों से विभूषित होकर वे नाग शास्ता की समुद्र स्थित उस महाबोधि की पूजा करने लगे ॥ १९ ॥

उत्पल, कुमुद, नीलपुष्प, शतपत्रक, कल्हार (सौगन्धिक), कुवलय आदि विशिष्ट मीठी गन्धवाले ॥ २० ॥

तक्कारी (वैजयन्ती), कोविदार, पाटल, बिम्बजालक, अशोक, शालपुष्प, मिश्रक एवं प्रियङ्गुक ॥ २१ ॥

फूलों से, प्रमुदित नागदेवताओं तथा नाग-कन्याओं, ने उस जलसमुद्र में स्थित महाबोधि की पूजा की ॥ २२ ॥

उस बोधि को सामने देखकर वे इतने प्रमुदित हुए कि वहाँ खेलते-खेलते उन्होंने वहाँ की भूमि को स्फटिक मणि एवं मुक्ताओं से भर डाला ॥ २३ ॥

वहाँ के विहारों की पुष्करिणियाँ पुष्पवृष्टि से चित्र-विचित्र हो गयीं । यों उन देवताओं और मनुष्यों ने सप्ताहपर्यन्त वहाँ रहकर हर्षोत्सव मनाया ॥ २४ ॥

वे अपने अपने घरों से निकल कर उस उत्तम बोधि की पूजा करते रहे । उनमें मालाओं के गुच्छे हाथ में ली हुई नागकन्याएँ और देवता–सभी थे ॥ २५ ॥

वे देवता बोधि को घेरकर हर्षपूर्वक आकाश में रुमाल (वस्त्रखण्ड) उड़ाने लगे । यों, बोधि के समीप रहकर नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहे ॥ २६ ॥

उस समय, पारिजात एवं मन्दार के पुष्प तथा दिव्य चन्दन-चूर्ण इतना बिखेरा गया कि उससे वहाँ का आकाश भी आवृत्त हो गया ॥ २७ ॥

नाग, यक्ष, भूत-प्रेत, देवता एवं मनुष्यों ने समुद्रस्थित उस बोधि को घेर लिया ॥ २८ ॥

वे बोधिवृक्ष को घेरे हुए वहाँ नाचते रहे, गाते रहे, बाजे बजाते रहे, हास-परिहास करते रहे। हर्षपूर्वक **बाँहें** बजाते रहे ॥ २९ ॥

इस तरह वहाँ उपस्थित सभी नाग, यक्ष, भूत-प्रेत, देवता एवं मनुष्य उस बोधिवृक्ष के सम्मुख माङ्गलिक स्वस्तिवाचन करते रहे ॥ ३० ॥

द्वीप के समीप आने पर, नागदेवताओं ने नीलवर्ण की सुन्दर ध्वजाएँ हाथों में लेकर, बोधि के रूप की प्रशंसा की ॥ ३१ ॥

बोधि का अनुराधपुर-आगमन– उस शुभ अवसर पर, बहुत से नागरिक रम्य अनुराधपुर से निकल कर, देव (राजा) और क्षत्रियों (अधिकारियों) के साथ उस बोधि के सम्मुख पहुँचे ॥ ३२ ॥

अपने पुत्रों सहित उन अधिकारियों ने उस बोधि को (सुरक्षाहेतु) घेर लिया। और उत्तम उत्तम गन्धयुक्त गन्ध-द्रव्यों एवं मालाओं से उस बोधि की पूजा की ॥ ३३ ॥

उस समय नगर के मार्ग (वीथियाँ) साफ किये गये महँगे अलङ्कारों से सजाये गये। यों, उस बोधिराज को नाव से उतार कर भूमि पर प्रतिष्ठित करते समय भूमि भी कम्पित हो उठी ॥ ३४ ॥

तब राजा ने उस बोधि की सुरक्षा हेतु आठ-आठ (८-८) क्षत्रियों (सुरक्षाधिकारियों) को नियुक्त किया। और उनका भी प्रधान बोधिगुप्त को बनाकर बोधि की रक्षा और सुदृढ़ की ॥ ३५ ॥

यों, सर्वप्रकार का संरक्षण देकर तथा सभी अलङ्कारों से अलङ्कृत कर, बोधि का सम्मान प्रकट करने हेतु पृथ्वी पर सोलह (१६) रेखाएँ खींच दीं ॥ ३६ ॥

रेखाओं के स्थान पर, अच्छा आवरण (चादर) बिछा दिया । यों उस बोधि की रक्षा करने वाले आठों कुलों को भी अत्यधिक धन देकर सम्मानित किया ॥ ३७ ॥

उनमें चन्द्रगुप्त अधिकारी को अभिषेकादि माङ्गलिक कृत्यों के अवसर पर कार्यनिष्पादक आठ (८) सुवर्णभेरियाँ दीं, एवं एक जनपद पुरस्कार में दिया ॥ ३८-३९ ॥

इसी तरह, देवगुप्त को एक प्रासाद तथा कुछ भूमि पुरस्कारस्वरूप प्रदान की । इसी प्रकार, अन्य (कुल-) क्षत्रियों को यथायोग्य ग्राम आदि पुरस्कार में दिये ॥ ४० ॥

राजपरिवार की वे वीतराग उच्चकुलोत्पन्न यशस्विनी सभी पाँच सौ कन्याएँ, उस अवसर पर प्रव्रजित हुईं ॥ ४१ ॥

यों वे पाँच सौ कन्याएँ अनुला देवी के साथ ही प्रव्रजित हुईं, ये सभी संसार में अनासक्त हो चुकी थीं ॥ ४२ ॥

उधर वह अरिष्ट क्षत्रिय भी संसार-भय से त्रस्त हो कर पाँच सौ (५००) परिवारों के साथ बुद्धधर्म में प्रव्रजित हुआ ॥ ४३ ॥

प्रव्रजित हुए ये सभी भिक्षु यथासमय अर्हत् हो गये । उधर वह महाबोधि भी (जम्बुद्वीप से आकर) ताम्रपर्णी द्वीप में आकर प्रतिष्ठित हो गयी ॥ ४४ ॥

सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥
महाबोधि-आगमन वर्णन समाप्त ॥
सोलहवाँ भाणवार भी समाप्त ॥

(इस कथा का विस्तार महावंश के १८-१९ परिच्छेदों में देखें—अनु.)

सत्रहवाँ परिच्छेद

(महेन्द्र का परिनिर्वाण)

लङ्काद्वीप का विस्तार–यह लङ्काद्वीप बत्तीस (३२) योजन लम्बा (दीर्घ) है, अट्ठारह (१८) योजन विस्तृत है, तथा सौ (१००) योजन चारों तरफ वृत्त (घिराव) है। यह सब तरफ समुद्र से घिरा हुआ है ॥ १ ॥

लङ्काद्वीप की विशेषता–यह लङ्का द्वीप अन्य द्वीपों से श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अनेक स्थानों में रत्नों का कोष (खजाना) है। इसमें स्थान स्थान पर नदी, तड़ाग, पर्वत एवं वन हैं ॥ २ ॥

शासनोपयोगी तेरह (१३) विषयों का ज्ञान–बुद्ध-शासन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता के ज्ञानहेतु इन तेरह (१३) बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। जैसे– १. द्वीप, २. नगर, ३. राजा, ४. उद्देशक (सङ्केतक या वह कारण जिससे वहाँ उपदेश दिया गया हो), ५. शरीर-धातु-निधान का स्थान, ६. स्तूप, ७. बोधिस्थान ८. पर्वत, ९. उद्यान, १०. (बोधिवृक्ष), ११. प्रधान भिक्षुणी, १२. अग्र भिक्षु एवं १३. बुद्ध। (अर्थात् बुद्धशासन के सूक्ष्म ज्ञान के लिये प्रामाणिकतया यह ज्ञान होना आवश्यक है कि कौन बुद्ध किस द्वीप में अवतरित हुए थे? किस नगर में उनका जन्म हुआ था? उस समय कौन राजा था? आदि। तभी वह व्यक्तिबुद्ध-शासन का प्रामाणिक ज्ञाता माना जाता है। (अतः इस परिच्छेद में इन्हीं तेरह का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।) ॥ ३ ॥

यहाँ, इन तेरह बातों का पृथक् पृथक् वर्णन करते हुए, सौकर्य (सुगमता) की दृष्टि से एक एक बात का चतुर्धा वर्णन किया जायगा (जिससे क्रमशः उस बात को इस काल में हुए चारों बुद्धों के लिये क्रमशः पृथक् पृथक् समझा जा सके)। उसे कहता हूँ, आप लोग सुनें ॥ ४ ॥

द्वीप नाम– जैसे- १. ओजोद्वीप, २. वरद्वीप, ३. मण्डद्वीप एवं ४. लङ्काद्वीप। (अर्थात् इसे यों समझना चाहिये–१. ककुसन्ध भगवान् के समय इस द्वीप का नाम था–'ओजोद्वीप' २. कोणागमन भगवान् के समय इस द्वीप का नाम था 'वरद्वीप', काश्यप भगवान् के समय इस द्वीप का नाम था-'मण्डद्वीप'; एवं ४. हमारे बुद्ध भगवान् (गौतम) के समय इस द्वीप का नाम हुआ 'लङ्काद्वीप') ॥ ५ ॥

पुरों के नाम–चारों बुद्धों के शासन में चार पुरों (नगरों) के पृथक् पृथक् नाम ये थे– १. अभय (भगवान् ककुसन्ध के समय यह नगर लङ्काद्वीप में प्रथम धर्मोपदेश-स्थल रहा था); २. वर्धमान (भगवान् कोणागमन के समय.); ३. विशाल (भगवान् काश्यप के समय.), एवं ४. अनुराधपुर (भगवान् गौतम बुद्ध के समय) ॥ ६ ॥

राजाओं के नाम–चारों बुद्धों के अवतार के समय उस उस नगर के क्रमशः ये राजा थे। जैसे– १. अभय (यह राजा भगवान् ककुसन्ध के समय अभयनगर का राजा था); २. समृद्ध (यह राजा भगवान् कोणागमन के समय वर्धमाननगर का राजा था); ३. जयन्त (यह राजा भगवान् काश्यप के समय विशालनगर का राजा था); एवं ४. देवानम्प्रिय तिष्य (यह राजा भगवान् के बुद्ध के वर्तमान शासनकाल में अनुराधपुर का राजा था)·॥ ७ ॥

चार उद्देशक (उपद्रव)–चारों बुद्धों के समय उन उन नगरों में ये ये उपद्रव हुए थे जिनके कारण उनको वहाँ धर्मोपदेश के लिये जाना पड़ा। जैसे १. रोग (भगवान् ककुसन्धके समय अभय नगर रमें प्रज्वरक रोग (महामारी) हुआ था, उसे शान्त करने के लिये वे वहाँ पधारे थे); २. दुर्वृष्टि (भगवान् कोणागमन के समय वर्धमानगर में यह उपद्रव हुआ); ३. विवाद (भगवान् काश्यप के समय विशाल नगर में यह उपद्रव हुआ) ४. यक्षदमन (भगवान गौतम बुद्ध के समय अनुराधपुर में यक्षों का उपद्रव हुआ था...) ॥ ८ ॥

चार धात्ववशेष– इन चारों बुद्धों की धातुएँ ये थीं- १. ककुसन्ध बुद्ध की धातु (अवशेष) था धम्मकरक (जल छानने वस्त्र); २. कोणागमन बुद्ध का धात्ववशेष था काय-बन्धन (कमर में बाँधने की पट्टी),३. काश्यप बुद्ध की जलशाटिका ही उनका धात्ववशेष थी; एवं ४. गौतम बुद्ध के धात्ववशेष उनकी एक द्रोण शारीरिक अस्थियाँ थीं ॥ ९-१० ॥

चार आराम– अतीत चार (४) बुद्धों के आरामों (विहारों) के नाम ये हैं–१. अभयनगर में पटियाराम (भगवान् ककुसन्ध का); २. वर्धमाननगर में उत्तराराम (भगवान् कोणागमन का); ३. विशालनगर में प्राचीनाराम (भगवान् काश्यप का); एवं ४. भगवान् गौतम बुद्ध का अनुराधपुर में स्तूपाराम। एवं चारों बुद्धों के शासन में उनके पृथक् पृथक् स्तूप थे ॥ ११ ॥

चार स्तूप–१. अभयनगर में कदम्बक के समीप (भगवान् ककुसन्ध का); २. तिष्यतड़ाक के समीप वर्धमानकनगर में (भगवान् कोणागमन का); ३. क्षेमतड़ाग के समीप विशाल नगर में (भगवान् काश्यप का); एवं ४. अनुराधपुर में (भगवान् बुद्ध का)। यों ये चार स्तूप लङ्काद्वीप में विद्यमान हैं ॥ १२-१३ ॥

चार पर्वत– चारों बुद्धों से सेवित ये चार पर्वत थे; जैसे–१. देवकूट (ओजद्वीप में भगवान् ककुसन्ध का), २. शीलकूट (वरद्वीप में भगवान् कोणागमन का)३. शुभ्रकूट (भगवान् काश्यप का मण्डद्वीप में); एवं ४. सुमनकूट (भगवान् गौतम बुद्ध का वर्तमान लङ्काद्वीप में) इन पर्वतों पर इन चारों की चतु:शालाएँ (साधनास्थल) थीं ॥ १४ ॥

चार उद्यान–चार बुद्धों के ये चार पृथक्-पृथक् उद्यान थे– १. महातीर्थ (भगवान् ककुसन्ध का); २. महानाम उद्यान (भगवान् कोणागमन का); ३. सागर उद्यान (भगवान् काश्यप का) एवं ४. महामेघवन (भगवान् बुद्ध का)। ये चार उद्यान चारों बुद्धों के दैनिक ईर्यापथ के साधन थे ॥ १५ ॥

चार बोधि-शाखा–अब यह बताया जा रहा है कि चारों बुद्धों का बोधिप्राप्ति के लिये प्रथम आसन किस वृक्ष के नीचे लगा था?

१. ककुसन्ध भगवान् ने उत्तम शिरीष वृक्ष के नीचे अपना बोधिआसन लगाया था ॥ १६ ॥

इस की दक्षिण शाखा ऋद्धिसम्पन्न रुचिनन्दा भिक्षुणी ने ओजद्वीप के महातीर्थआराम में लाकर प्रतिष्ठित की थी ॥ १७ ॥

२. कोणागमन भगवान् ने उदुम्बर वृक्ष के नीचे बोधिआसन लगाया था। इसकी दक्षिण शाखा लाकर ऋद्धिसम्पन्न कन्दनन्दा भिक्षुणी ने ॥ १८ ॥

वरद्वीप के महानाम-आराम में आरोपित की थी।

३. काश्यप भगवान् ने न्यग्रोध वृक्ष के नीचे अपना बोधि आसन लगाया था ॥ १९ ॥

इस की दक्षिण शाखा ऋद्धिसम्पन्न सुधर्मा भिक्षुणी ने सागर नामक आराम में द्रुमचैत्य में आरोपित की थी ॥ २० ॥

४. गौतम बुद्ध ने अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे अपना बोधि आसन लगाया था । इसकी दक्षिणशाखा ऋद्धिसम्पन्न सङ्घमित्रा भिक्षुणी ने लाकर यहाँ रम्य महामेघवन आराम में लाकर लगायी थी ॥ २१ ॥

चार भिक्षुणियाँ– ये (उपर्युक्त) चार भिक्षुणियाँ चार बोधिवृक्षों को यथासमय इस द्वीप में लाने वाली थी ॥ २२ ॥

चार बोधिस्थान– १. महातीर्थ में शिरीष, २. महानाम में उदुम्बर, ३. महासागर में न्यग्रोध, ४. मेघवन में अश्वत्थ अचल । चार आरामों में ये चार बोधिवृक्ष लगाये गये ॥ २३-२४ ॥

चार शयनासन– इन्हीं उपर्युक्त चार आरामों में चार बुद्धों के यथासमय शयनासन लगे थे ।

चार प्रधान शिष्य– (श्रावक)–१.भगवान् ककुसन्ध का षडभिज्ञ महादेव; २. भगवान् कोणागमन का प्रतिसंविदाप्राप्त सुमन; ३. भगवान् काश्यप का महान् ॥ २५ ॥

ऋद्धिसम्पन्न सर्वनन्द एवं ४. भगवान् बुद्ध का बहुश्रुत महेन्द्र । ये सभी स्थविर महाप्राज्ञ थे, एवं ताम्रपर्णी द्वीप को अपने उपदेशों से धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाने वाले थे ॥ २६ ॥

चार बुद्ध–१. भगवान् ककुसन्ध–सब लोकों में श्रेष्ठ, पाँच नेत्रों से देखने वाले, ज्ञानी, सभी लोकों पर मैत्री भावना रखनेवाले भगवान् ककुसन्ध ने इस द्वीप को सर्वप्रथम देखा था ॥ २७ ॥

उनके समय में पुण्णकनरक नाम का ज्वर महामारी के रूप में इस द्वीप में फैला था ॥ २८ ॥

इस रोग से बहुत से नागरिक आक्रान्त हो गये थे । वे ऐसे दुःखी हो रहे थे जैसे भूमि पर आकर (जल के विना) मछली तड़पा करती है । वे सभी दुःखित-चित्त हो कर इस रोग से छुटकारा पाने के लिये चिन्तामग्न रहते थे ॥ २९ ॥

वे भयभीत हो रहे थे। उन्हें कहीं से भी कोई आश्वासन नहीं मिल पा रहा था। यों, उन प्राणियों को रोग के कारण दुःखितचित्त देखकर ॥ ३० ॥

चालीस हजार भिक्षुओं के साथ, जो कि सभी षडभिज्ञ एवं ऋद्धिसम्पन्न थे, भगवान् ककुसन्ध उन्हें उस रोग से मुक्ति दिलाने के लिये, जम्बुद्वीप से यहाँ पधारे थे ॥ ३१ ॥

उन षडभिज्ञ ऋद्धिसम्पन्न चालीस हजार (४०,०००) भिक्षुओं से परिवृत भगवान् ककुसन्ध ऐसे शोभित हो रहे थे जैसे आकाश में तारासमूह से घिरा हुआ चन्द्रमा ॥ ३२ ॥

ये लोकनाथ ककुसन्ध शिष्यों सहित देवकूट पर्वत पर उतर कर देवता की तरह शोभित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

उस देवकूट पर उतर कर प्रकाशित हुए उन्हें देखकर सभी नागरिक प्रथम दृष्टि में उनको कोई देवता ही समझ रहे थे; उन्हें कोई बुद्ध नहीं मान रहा था। ॥ ३४ ॥

उस समय उस लोकनाथ (ककुसन्ध) ने काननसहित उस पर्वत को उसी तरह देदीप्यमान किया, जैसे उपोसथ की पूर्णिमा की रात्रि में पूर्व दिशा में उदित चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है ॥ ३५ ॥

उस पर्वत को सब तरफ से प्रकाशित देखकर राजा सहित अभयपुर के सभी नागरिक प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥

उसी समय भगवान् ने सङ्कल्प किया-"ओज-द्वीप के सभी नागरिक मेरे दर्शनहेतु यहाँ देवकूट पर्वत पर आवें" ॥ ३७ ॥

"अब तो देवकूट ही हमारा शरणस्थल है"–यह सोच कर प्रज्वरक रोगसे पीड़ित अत एव भयार्त राजा तथा सैनिकों सहित वे नागरिक ॥ ३८ ॥

अभयपुर नगर से निकलकर वहाँ (पर्वत पर) जाकर भगवान् ककुसन्ध को प्रणाम करने लगे । राजा सहित सभी सैनिक एवं नागरिक ॥ ३९ ॥

वहां विराजमान भगवान् को प्रथम दर्शन में कोई देवता समझ बैठे ॥ ४० ॥

फिर, (राजा) उन बुद्ध के पास जा कर यों बोले–"भन्ते! आज भिक्षुगणसहित आप मेरे यहाँ भोजन करें" ॥ ४१ ॥

"आज का भोजन हम नगर में चलकर करेंगे"–यह मानकर भगवान् ने राजा की बात मौन भाव से स्वीकार कर ली ॥ ४२ ॥

तब सेना एवं नागरिकों सहित राजा ने भोजनहेतु भगवान् की मौन स्वीकृति समझ कर नगर में उनका स्वागत सत्कार करने के लिये पुनः नगर की तरफ ही प्रस्थान किया ॥ ४३ ॥

राजा ने सोचा–"यह भिक्षुसङ्घ सङ्ख्या में बहुत अधिक है, इधर हमारे नागरिक भी बहुत हैं । इन लोगों के बैठने के लिये मैने कोई उचित स्थान नहीं खोजा; क्योंकि नगर तो अपने आप में बहुत सङ्कीर्ण है । मैने एतदर्थ कोई अन्य स्थान अभी तक व्यवस्थित नहीं किया ! ॥ ४४ ॥

"हाँ, मेरे पास सुन्दर महातीर्थ आराम अवश्य है जो निर्बाध भी है, मनोरम भी है । वह अधिक दूर भी नहीं है तथा प्रव्रजितों के वासहेतु अनुकूल भी है ॥ ४५ ॥

"उनकी ध्यानभावना के लिये भी उचित है । महर्षि को भी सम्भवतः अनुकूल लगे । मैं इस भिक्षुसङ्घ को भगवान् के साथ वहीं ठहराऊँगा और उसे उचित दान-दक्षिण दूँगा ॥ ४६ ॥

"अतः सभी नागरिक वहीं (महातीर्थ उद्यमें) एकत्र हो कर भगवान् बुद्ध एवं भिक्षुसङ्घ का दर्शन करें । जो कि सङ्ख्या में चालीस हजार (४०,०००) हैं" ॥ ४७ ॥

भगवान् ककुसन्ध यथासमय उस महातीर्थ उद्यान में पहुँचे । उस महाउद्यान में भगवान् के विराजने पर ॥ ४८ ॥

राजा ने, मन्द वायु से काँपे हुए वृक्षों से गिरे उन असमय के पुष्पों को तथा सुवर्णमय भिङ्कार (जलपात्र) लेकर ॥ ४९ ॥

हाथ में उस पात्र से जल लेकर राजा ने भगवान् से निवेदन किया– "भन्ते! यह उद्यान बुद्धप्रमुख भिक्षुसङ्घ को दान करता हूँ" ॥ ५० ॥

इस सर्वसाधनयुक्त, सोने-बैठने में अनुकूल, मनोरम उद्यान को सङ्घ के लिये उचित स्थान मान कर भगवान् ककुसन्ध ने उस उद्यान को स्वीकार कर लिया ॥ ५१ ॥

इस अवसर पर (प्रथम शयनासन के दिये जाने पर) पृथ्वी में कम्पन होने लगा । इस भूकम्पन का कारण जानने के लिये भगवान् कुछ क्षण एकाग्रचित्त हुए ॥ ५२ ॥

तब उन्होंने जाना–"अवश्य ही रुचिनन्दा भिक्षुणी यहाँ बोधिवृक्ष की शाखा लायगी ।" भगवान् के इस सङ्कल्प को जानकर वह ऋद्धिमती रुचिनन्दा भिक्षुणी ॥ ५३ ॥

शिरीष सम्बोधि वृक्ष के नीचे जाकर खड़ी हुई । और मन से चिन्तन करते हुए यह कहा–"भगवान् चाहते हैं कि मैं इसकी शाखा ओजद्वीप में ले जाकर प्रतिष्ठित करूँ" ॥ ५४ ॥

यह चिन्तन कर वह इस बोधि को ले जाने के लिये वहाँ उपस्थित हो गयी । तब वह रुचिनन्दा भिक्षुणी हाथ जोड़कर यों बोली–"प्राणियों पर अनुकम्पा करने हेतु भगवान् बुद्ध द्वारा अनुमोदित, मेरे ऋद्धिबल के प्रभाव से, इस बोधिवृक्ष की दक्षिण शाखा वृक्ष से पृथक् हो जाय" ॥ ५५-५६ ॥

भिक्षुणी के ऐसा कहते ही, बोधिवृक्ष की दक्षिणशाखा सुवर्णकटाह में आकर प्रतिष्ठित हो गयी । वह रुचिनन्दा भिक्षुणी उस सुवर्णकटाह में स्थित शाखा को लेकर ॥ ५७ ॥

पाँच सौ (५००) भिक्षुणियों के साथ यहाँ आयी । इस विशिष्ट अवसर पर भी, समुद्र एवं पर्वत सहित यह पृथ्वी काँप उठी ॥ ५८ ॥

उसी समय अत्यधिक लोमहर्षक दिव्य प्रकाश भी हुआ । उसे देख कर सभी नागरिक एवं सैनिक प्रसन्न हुए ॥ ५९ ॥

और सभी उपस्थित नागरिकों ने उन उत्तम बुद्ध को हाथ जोड़कर प्रणाम किया । यह अवसर देवताओं के लिये भी प्रमोदमय बन गया ॥ ६० ॥

उस उत्तम बोधि को देखकर चारों यशस्वी लोकपाल भी प्रमुदित चित्त हो कर हर्ष प्रकट करने लगे ॥ ६१ ॥

सभी देवताओं ने उस शिरीष बोधि की रक्षा का निश्चय किया। एतदर्थ, सभी त्रायस्त्रिंश देव, वशवर्ती देव, याम, शक्र, सुयाम, सन्तुषित, सुनिर्मित आदि देवता उसके चारों ओर खड़े हो गये ॥ ६२-६३ ॥

वह प्रमुदित देवसङ्घ हाथ जोड़कर, रुचिनन्दा भिक्षुणी के साथ उस उत्तम बोधिवृक्ष की पूजा करने लगा ॥ ६४ ॥

भिक्षुणियों से परिवृत वह ऋद्धिमती रुचिनन्दा भिक्षुणी उस शिरीष बोधि शाखा को लेकर ओजद्वीप गयी ॥ ६५ ॥

जब बोधिशाखा ओजद्वीप ले जायी जा रही थी उस अवसर पर देवतागण हर्षातिरेक से नाचने गाने लगे तथा भुजाएँ (काँख) बजाने लगे ॥ ६६ ॥

यों देवसङ्घ से परिवृत ऋद्धिमती रुचिनन्दा भिक्षुणी उस शिरीष बोधि को लेकर भगवान् ककुसन्ध के पास पहुँची ॥ ६७ ॥

उस समय महाबलशाली शास्ता ककुसन्ध महातीर्थवन उद्यान में उसी स्थान पर विराजमान थे, जहाँ बोधि- शाखा को प्रतिष्ठित करना था ॥ ६८ ॥

रुचिनन्दा ने उस दिव्य प्रकाश युक्त बोधिशाखा को स्वयं भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं किया। यह देख कर महामुनि ककुसन्ध ने अपना दाहिना हाथ फैलाया ॥ ६९ ॥

तब रुचिनन्दा भिक्षुणी ने उस बोधि की दक्षिणशाखा को बुद्ध के दाहिने हाथ पर रखकर प्रणाम किया ॥ ७० ॥

कुछ सोचकर लोकज्येष्ठ भगवान् ककुसन्ध ने भी वहाँ उपस्थित राजा के हाथ में वह बोधिशाखा दे दी, और सङ्केत करते हुए कहा–"इस शाखा को इस स्थान पर प्रतिष्ठित कर दो" ॥ ७१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ भगवान् ककुसन्ध ने जिस स्थान का सङ्केत किया था, राजा अभय ने उसी स्थान पर उस शाखा को प्रतिष्ठित (अभिरोपित) कर दिया ॥ ७२ ॥

इस अवसर पर, जब उस बोधिशाखा को भूमि में अभिरोपित किया गया था, भगवान् ने धर्मप्रेमी जनता को आर्यसत्यचतुष्टय समझने के लिये धर्मोपदेश किया ॥ ७३ ॥

उस धर्मोपदेश के प्रभाव से वहाँ उपस्थित एक लाख चालीस हजार (१,४०, ०००) धर्मप्राण जनता को तथा तीस करोड़ (३०,००,००,०००) देवताओं को धर्मलाभ हुआ ॥ ७४ ॥

अन्य तीन बुद्ध– यों, भगवान् ककुसन्ध का शिरीष बोधिवृक्ष, भगवान् कोणागमन का उदुम्बर बोधिवृक्ष, एवं भगवान् काश्यप का न्यग्रोध बोधिवृक्ष –ये तीनों ही बोधिवृक्ष भी यहाँ (इस द्वीप में) लाये गये ॥ ७५ ॥

और अद्वितीय भगवान् शाक्यपुत्र का भी उत्तम अश्वत्थ बोधिवृक्ष यहाँ लाकर मेघवनोद्यान में रोपा गया ॥ ७६ ॥

मुटशिव के पुत्र–दश भाई थे । उनके नाम क्रमशः ये हैं– १. अभय, २. तिष्य (प्रथम), ३. नाग, ४. उत्तिय, ५. मत्ताभय, ६. मित्र, ७. शिव, ८. अशैल, ९. तिष्य (द्वितीय), एवं १०. क्षीर । और मुटशिव की दो पुत्रियाँ थी– १. सीवली एवं २. अनुला ॥ ७७-७८ ॥

राजा का कालनिर्धारण– परन्तु इन दश पुत्रों में से केवल दो को ही इस उत्तम लङ्काद्वीप पर राज्य करने का अवसर मिला । जब राजा मुटशिव का पुत्र (देवानाम्प्रिय तिष्य) राज्याभिषिक्त हुआ ॥ ७९ ॥

तो यह राज्याभिषेक भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद कितने वर्ष बाद हुआ ?–यदि इस का गणित (कालनिर्धारण) किया जाय तो वह यह होगा–॥ ८० ॥

देवानाम्प्रिय तिष्य, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के दो सौ छत्तीस (२३६) वर्ष बाद, राज्याभिषिक्त हुए थे । वे इतने प्रतापी राजा हुए कि उनके राज्याभिषिक्त होते ही सभी ऋद्धियाँ उसके सम्मुख उपस्थित हो गयीं ॥ ८१ ॥

राजा को ऋद्धिप्राप्ति– राजा का पुण्य प्रताप ताम्रपर्णी में सर्वत्र फैल गया । और वह श्रेष्ठ लङ्काद्वीप रत्नों का निधि कोष (खजाना) बन गया ॥ ८२ ॥

उस राजा तिष्य के पुण्य-प्रभाव से उसके पास नाना प्रकार के रत्न एकत्र हो गये । उस रत्नराशि को देख कर राजा अत्यधिक प्रसन्नचित्त हो गया ॥ ८३ ॥

उपहार-प्रेषण– तथा उस रत्नराशि को उपहार के रूप में राजा अशोक के पास (जम्बुद्वीप में) भिजवा दिया । उस उपहार में आये रत्नसमूह को देखकर राजा अशोक भी बहुत प्रमुदित हो उठे ॥ ८४ ॥

फिर धर्मराज अशोक ने भी देवानाम्प्रिय तिष्य के अभिषेक के लिये अपनी तरफ से अनेक रत्न ताम्रपर्णी भेजे ॥ ८५ ॥

जैसे–चँवर, मुकुट, छत्र, खड्ग, चरणपादुका, वेष्टन (कमरबन्द) कर्णकुण्डल, भिङ्गार (जलपात्र), नन्द्यावर्त ॥ ८६ ॥

श्रेष्ठ शङ्ख, पालकी, विना धोया हुआ (नवीन) वस्त्रयुगल (धोती जोड़ा), सुवर्णनिर्मित कढाई,करछुल, महँगा हाथ पोंछने का वस्त्र (रूमाल) ॥ ८७ ॥

अनवप्तदह से लाया हुआ एक बहँगी जल, उत्तम (श्रेष्ठ) हरिचन्दन, लाल, मृत्तिका (अच्छी मिट्टी), नागराज द्वारा भेजा गया अञ्जन ॥ ८८ ॥

अच्छी जाति की हरीतकी (हर्रे), आमलक, एवं अमृतौषध (गिलोय), एवं साठ वाह (एक माप) शालि धान्य जो कि सुगन्धित तथा शुक पक्षियों द्वारा आहृत थे ॥ ८९ ॥

पूर्व पुण्य कर्मों से प्राप्त ऐसे सुन्दर सुन्दर उपहार राजा देवानाम्प्रिय तिष्य के राज्याभिषेक के समय धर्मराज अशोक ने भेजे ॥ ९० ॥

धर्मराज अशोक द्वारा भेजी गयी इस अभिषेक-सामग्री से वह राजा (तिष्य) पुनः ताम्रपर्णी राज्य पर अभिषिक्त हुआ ॥ ९१ ॥

राजा के सत्कृत्य– इस द्वितीय राज्याभिषेक के तीस (३०) रात्रि (एक मास) बीतने के बाद महेन्द्र स्थविर ताम्रपर्णी द्वीप में पधारे । तथा यहाँ आकर अद्वितीय तिष्याराम विहार बनवाया ॥ ९२ ॥

तथा, साथ ही महामेघवनोद्यान में महाबोधि की दक्षिण शाखा को प्रत्यारोपित कराया । साथ ही सुन्दर एवं विशाल स्तूप का भी निर्माण कराया ॥ ९३ ॥

इस राजा ने चैत्य पर्वत पर एक स्तूपाराम बनवाया। साथ ही मिश्रक पर्वत पर भी स्तूपारामविहार बनवाया ॥ ९४ ॥

वैश्य गिरि पर 'चूड़क तिष्य' नामक विहार बनवाया। और इनके अतिरिक्त सर्वत्र योजन-योजन की दूरी पर भिक्षुओं के लिये अन्य 'आराम' भी बनवाये ॥ ९५ ॥

राजा का देहावसान– इस तरह राजा ने बुद्ध-धातुओं का भी यथायोग्य स्तूप प्रतिष्ठित किया। यों, धर्मपूर्वक राज्य करते हुए इस राजा (तिष्य) ने चालीस (४०) वर्ष पर्यन्त राज्य किया ॥ ९६ ॥

राजा उत्तिय– मुटशिव राजा के पुत्र अन्य चार (४) भाई (अवशिष्ट) थे, जिनमें उत्तिय ने भी राजा बनकर दश (१०) वर्ष राज्य किया ॥ ९७ ॥

महेन्द्र स्थविर का निर्वाण– इस उत्तिय को राज्य करते हुए आठ(८) वर्ष ही बीते थे कि द्वीपज्योतिर्भूत महेन्द्र स्थविर परिनिर्वृत हो गये। इनका देहपात पुराने तिष्याराम में रहते हुए हुआ था ॥ ९८ ॥

भिक्षु होने के बारह (१२) वर्ष बीतने के बाद महेन्द्र स्थविर लङ्काद्वीप में आये थे। तथा साठ (६०) वर्ष पूर्ण होने पर चैत्य पर्वत पर इनका परिनिर्वाण हुआ ॥ ९९ ॥

महेन्द्र स्थविर के देहपात (शरीरनिक्षेप) के अनन्तर, राजा उत्तिय ने मार्ग सजा कर, माला-फूल आदि से तोरण बनाकर, दीप जलाकर, उस शरीर की और्ध्वदैहिक क्रिया की ॥ १०० ॥

राजा उत्तिय ने इसी दीपद्योतक की स्मृति में एक रम्य, दर्शनीय कूटागार (वैकुण्ठी) बनवाया और शरीर को उसमें रखकर उसकी पूजा की ॥ १०१ ॥

देवता और मनुष्य–दोनों ने, नाग, गन्धर्व और दानवों ने–सभी ने दुःखी मन से उस स्तूप की पूजा की ॥ १०२ ॥

यह पूजा-क्रम सप्ताहपर्यन्त, निरन्तर चलता रहा । तब उनमें से कुछ ने कहा-"अब हमें इन्हें अपने नगर में ले चलना चाहिये" ॥ १०३ ॥

यह सुनकर बहुत से लोग क्रुद्ध हुए और बोले -"नहीं, इनका दाहकर्म यहीं होगा" ॥ १०४ ॥

तब राजा ने, विरोध करने वाली जनता का बहुमत देखकर पुराने तिस्साराम में ही चिता सजायी ॥ १०५ ॥

फिर कूटागारसहित स्थविर के शरीर को उठाकर शवयात्रा के रूप में राजा सहित जनता पहले नगर के पूर्वी द्वार में प्रविष्ट हुई ॥ १०६ ॥

फिर नगर में जाकर, दक्षिण द्वार से निकल कर, महा-विहार में कूटागार सहित उस शरीर को रखकर वहाँ उसकी महापूजा की ॥ १०७ ॥

उस राजोद्यान में गन्धद्रव्यमय चिता के पास ले जाकर देवता और मनुष्य- दोनों ने पूजा के लिये ॥ १०८ ॥

उस कूटागार (बैकुण्ठी) को उठाकर महेन्द्र स्थविर के शरीर की पूजा-प्रदक्षिणा कर पूर्वद्वार से निकालकर नागरिकों ने उस शरीर को पवित्र भूमि पर रखा ॥ १०९ -११० ॥

फिर उसे चिता पर रखते हुए, हाथ जोड़ कर रोते हुए, शिर से प्रणाम कर चिता को अग्नि दी ॥ १११ ॥

बाद में, उस विद्वान् महेन्द्र स्थविर की धातुओं (अस्थियों) के भस्मावशेष पर राजा ने सभी विहारों में स्तूप-निर्माण कराया ॥ ११२ ॥

जिस भूमि पर महेन्द्रस्थविर का देहपात हुआ था वह भूमि उसी दिन से 'ऋषिभूमि' नाम से जनता में प्रसिद्ध हो गयी ॥ ११३ ॥

सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥
महेन्द्रस्थविर-निर्वाण वर्णन समाप्त ॥
सत्रहवाँ भाणवार समाप्त ॥

(इस कथा का विस्तार महावंश के २० वें परिच्छेद में भी देखें-अनु.)

अठारहवाँ परिच्छेद

(लङ्काद्वीप की भिक्षुणियों का वर्णन)

सद्धर्म-माहात्म्य– आज, महास्थविर के परिनिर्वाण के बाद, भी इस सद्धर्म में ऐसे स्थविर, मध्यम एवं नये भिक्षु हैं जो विभज्यवाद (स्थविरवाद) के पोषक हैं, विनय में शासन के नियमों को पालते हैं ॥ १ ॥

जो बहुश्रुत हैं, शीलवान् हैं, अपने सदाचार से समग्र लोक (भूमण्डल) को अवभासित कर रहे हैं, धुताङ्ग के आचरण से युक्त है; इस समग्र द्वीप को सद्धर्म-प्रचार से शोभित कर रहे हैं॥ २ ॥

ऐसे भी शाक्यपुत्र (बुद्धमतानुयायी भिक्षु) बहुत हैं जो इस सद्धर्म की परिपाटी का सम्यक् प्रकार से ज्ञान रखते हैं ।

वे दिव्यदृष्टि भिक्षु बहुतों के प्रयोजन के लिये (भवदुःखमुक्तिहेतु) इस लोक में अवतरित होते हैं ॥ ३ ॥

वे भगवान् यहाँ अज्ञानान्धकार को नष्ट कर, ज्ञान का प्रकाश करते हैं । ऐसे उस शास्ता तथागत (भगवान् बुद्ध) में जिनकी अचल (स्थायी) श्रद्धा हैं ॥ ४ ॥

वे अपनी सभी दुर्गतियाँ (नरकयोनि) छोड़ कर (उन भगवान् की कृपा से) सुगति (स्वर्ग) की तरफ ही जाते हैं । जो (उनके अनुशासन में रहकर) बोध्यङ्ग, इन्द्रिया और बल ॥ ५ ॥

स्मृति, सम्यक्प्रधान, ऋद्धिपाद, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, जो दुःखक्षय की तरफ ले जाता है, की भावना करते है ॥ ६ ॥

वे ही मृत्यु (मार) सेना को छिन्न-भिन्न कर संसार में विजयी कहलाते हैं ।
थेरी भिक्षुणियाँ– मायादेवी और उनकी छोटी बहन, जो एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुई थी, तथा जिन्होंने सिद्धार्थ को अपने स्तनों से दूध पिलाया था, उनकी इस (बौद्ध) धर्म के प्रधानों में गणना है । वे छह अभिज्ञाओं तथा ऋद्धियों से सम्पन्न थी ॥ ७-८ ॥

उनका नाम 'महाप्रजापती' था । और 'गौतमी' उनका उपनाम था । इसी तरह क्षेमा एवं उत्पलवर्णा भिक्षुणी भी (इस बुद्ध धर्म में) प्रधान श्राविका (अग्रश्राविका) कहलाती थीं ॥ ९ ॥

मध्यम भिक्षुणियाँ– पटाचार, धम्मदिन्ना, शोभिता, ऋषिदासिका, विशाखा, सोणा, सुबला, बुद्धिमती सङ्घदासी ॥ १० ॥

नन्दा, धर्मपाला– ये सभी भिक्षुणियाँ विनयपालन में दक्ष थीं । ये भिक्षुणियाँ जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में 'मार्गज्ञ' कहलाती थीं– ॥ ११ ॥

थेरी सङ्घमित्रा, बुद्धिमती उत्तरा, हेमा, मसारगल्ला, अग्निमित्रा, दासिका ॥ १२ ॥

नव भिक्षुणियाँ– फेग्गु, पर्वता, मत्ता, मल्ला, धर्मदासी– ये भिक्षुणियाँ नयी प्रव्रजित होकर इस लङ्काद्वीप में आयी थी ॥ १३ ॥

ये सभी भिक्षुणियाँ, सद्धर्म के स्थैर्य की कामना से, अनुराधपुर में आकर बुद्धवचन का स्वाध्याय करने लगीं । इन्होंने समग्र विनयपिटक, सुत्तपिटक के पाँचों निकाय एवं अभिधर्मपिटक के सातों प्रकरण-ग्रन्थ गुरुमुख से पढ़े ॥ १४ ॥

लङ्काद्वीप की भिक्षुणियाँ– सद्धर्मनन्दी, सोमा, गिरिद्धि, दासिका, धम्मा एवं धम्मपाला– ये भिक्षुणियाँ विनय की पण्डित थीं । सोभना एवं धम्मतापसा भिक्षुणियाँ धुताङ्गपालन में कुशल थी ॥ १५ ॥

बुद्धिमती नरमित्रा भी 'विनय' की पण्डित थी । साता, काली एवं उत्तरा– ये भिक्षुणियाँ 'थेरीवाद' के प्रवचन में कुशल थीं ॥ १६ ॥

ये सभी भिक्षुणियाँ उस समय सद्धर्म में उपसम्पन्न होकर 'द्वीप की शोभा' बन गयीं । ये अभिज्ञात, शुद्धचित्त, तथा इस सद्धर्म की परिपाटी में कुशल थीं ॥ १७ ॥

उस समय उत्पन्न हुई ये भिक्षुणियाँ वीतराग एवं समाधिकुशल थी । इनके मनःसङ्कल्प पवित्र हो चुके थे, तथा ये सद्धर्म के अनुशासन में रत रहती थीं ॥ १८ ॥

बीस हजार (२०,०००) भिक्षुणियों के साथ उत्तरा भिक्षुणी ने उच्चकुलोत्पन्न यशस्वी अभय स्थविर से ॥ १९ ॥

अनुराधपुर में रहते हुए विनयपिटक का अध्ययन किया । इसी तरह सुत्तपिटक के पाँचों निकाय एवं अभिधम्मपिटक के सातों प्रकरण-ग्रन्थ पढ़े ॥ २० ॥

इसी तरह काकवर्ण राजा की पुत्री भी अभिज्ञात एवं सद्धर्म परिपाटी की जानकार थी ॥ २१ ॥

पुरोहित की पुत्री गिरिकाली भी बहुश्रुत थी । दासी, काली एवं सुब्बपापिका ये जुआरी की पुत्रियाँ भी ॥ २२ ॥

भिक्षुणियाँ बनकर समग्र बुद्ध वचन में इतनी निष्णात हो गयीं कि बहुत कठिनता से ही कोई विद्वान् इन का प्रमाद पकड़ पाता था । इनका मनःसङ्कल्प पवित्र रहता था । वे सद्धर्मपालन में भी निरत रहती थीं ॥ २३ ॥

रोहना भिक्षुणी– बीस हजार (२०,०००) भिक्षुणियों के साथ भिक्षुणीसङ्घ में प्रशंसाप्राप्त रोहना भिक्षुणी ने यशस्वी नरश्रेष्ठ अभय से ॥ २४ ॥

अनुराधपुर में रहकर 'विनय' पढ़ा । इसी तरह महादेवी, पद्मा एवं यशस्विनी, हेमाशा ॥ २५ ॥

ये सभी भिक्षुणियाँ छह अभिज्ञाओं तथा ऋद्धियों से सम्पन्न थी तथा राजा देवानाम्प्रिय तिष्य भी इनका आदर करता था ॥ २६ ॥

इन्होंने अनुराधपुर में रहकर 'विनय' पढ़ा । महासोणा, दत्ता, एवं बुद्धिमती सीवली ॥ २७ ॥

देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा पूजित रूपशोभिनी, अप्रमत्ता, नागा, नागमित्रा, धर्मगुप्ता, दासिका ॥ २८ ॥

ज्ञानसम्पन्न समुद्रा, जो कि सद्धर्म-परम्परा की जानकार थी, सपत्ता, छन्ना, उपाली तथा साधुसम्मत रेवता ॥ २९ ॥

जो कि विनयवादियों में श्रेष्ठ थी और सोमदेव की पुत्री थी ।
इसी तरह माला, क्षेमा, तिष्या भिक्षुणियाँ धर्मप्रवाचकों में श्रेष्ठ थी ॥ ३० ॥

इन्होनें लङ्का द्वीप में, प्रथम अभय स्थविर के निर्वाण के बाद, जिज्ञासुओं को 'विनय' का वाचन कराया ।

इसी तरह महारुहा एवं सीवली भिक्षुणी सद्धर्मवंश की ज्ञात्री थीं ॥ ३१ ॥

ये दोनों भिक्षुणियाँ लङ्काद्वीपवासियों की सद्धर्म में श्रद्धा उत्पाद के लिये बीस हजार (२०,०००) भिक्षुणियों के साथ जम्बुद्वीप से यहाँ (लङ्का द्वीप में) आयी थीं ॥ ३२ ॥

यशस्वी राजा अभयदेव के कहने पर इन्होंने यहाँ विनय पढ़ाया । पाँचों निकाय पढ़ाये । साथ ही (अभिधर्म के) सात प्रकरण-ग्रन्थ भी पढ़ाये ॥ ३३ ॥

समुद्रा, नावादेवी एवं सीवली–ये तीनों भिक्षुणियाँ राजपुत्रियाँ थीं ॥ ३४ ॥

बुद्धिमती नागपाली एवं पण्डिता नागमित्रा एवं महिला भिक्षुणीपाला– ये तीनों भिक्षुणियाँ विनयविशारद थीं ॥ ३५ ॥

नागा एवं नागमित्रा– नागा एवं नागमित्रा भिक्षुणियाँ सद्धर्मवंश की पण्डित थीं । ये सभी भिक्षुणियाँ अपने समय में (तदा) उपसम्पन्न होकर लङ्का द्वीप के भिक्षुणी-जगत् में प्रसिद्ध हो गयीं ॥ ३६ ॥

ये सभी उच्चकुलोत्पन्न थी, सङ्घ में इनकी प्रसिद्धि थी । सोलह हजार (१६,०००) भिक्षुणियों में ये श्रेष्ठ थी और उनकी धुरी के समान थीं ॥ ३७ ॥

ये यशस्वी कुटिकण्ण अभय द्वारा प्रशंसा (पूजा) प्राप्त थीं । इन्होंने (अपने समय में) अनुराधपुर में रहकर भिक्षुणियों को विनय पढ़ाया था ॥ ३८ ॥

चूळनागा, दत्ता एवं सोणा– ये तीन भिक्षुणियाँ सज्जनों द्वारा प्रशंसाप्राप्त थी, उच्चकुलोत्पन्न थीं, श्लक्ष्णा(मृदु= कोमल) स्वभाव वाली थीं । तथा सद्धर्मपरम्परा की पण्डित थीं ॥ ३९ ॥

महाप्राज्ञ गमिकपुत्री एवं विदुषी महातिष्या, महामनस्विनी सुमना एवं पण्डिता महाकाली ॥ ४० ॥

ये सभी भिक्षुणियाँ पूज्य (सम्भावित) कुल में उत्पन्न हुई थीं । लक्ष्य (अर्हत्त्व) तक पहुँची हुई थीं, अतएव अत्यधिक यशस्विनी थीं । शास्त्रवाचन में तीक्ष्ण बुद्धि थीं । सद्धर्म की उन्नति (रोहन) के कार्यों में सज्जनों द्वारा प्रशंसा प्राप्त थीं ॥ ४१ ॥

समुद्रा भिक्षुणी आभिजात्य (प्रशस्त) कुल में उत्पन्न हुई थी । सद्धर्मपरम्परा की बहुत अच्छी पण्डित थी । विभज्यवाद (स्थविरवाद) में पारङ्गत थी । 'विनय' की भी पण्डित थी । ये सभी भिक्षुणियाँ 'सङ्घ की शोभा' थी ॥ ४२ ॥

ये (अपने समय में) इसी द्वीप में सङ्घ में उपसम्पन्न हुई थीं । ये पवित्र मनःसङ्कल्प वाली थी तथा सद्धर्म एवं विनय में रत रहती थीं ॥ ४३ ॥

ये सभी भिक्षुणियाँ बहुश्रुत थीं, श्रुतधर थी, पापकर्मों से दूर हो चुकी थीं । समाज में बहुत यशःसम्पन्न थी । अग्निस्कन्ध की तरह द्वीप में प्रकाशित होती हुई अन्त में परिनिर्वृत हो गयीं ॥ ४४ ॥

आज भी ऐसी दूसरी स्थविर, मध्यम एवं नव भिक्षुणियाँ हैं जो पूर्णतः स्थविरवादी हैं, विनय की पक्षपाती हैं, धर्मनुशासन का पालन करती हैं ॥ ४५ ॥

बहुश्रुत हैं, श्रुतधर हैं, और इस पृथ्वी की शोभा बढ़ा रही हैं ॥

भिक्षुणी-वर्णन समाप्त ॥

राजा शिव– राजा शिव ने दश वर्ष राज्य किया । उसने नगराङ्गण नामक एक मनोज्ञ (सुन्दर) आराम बनवाया ॥ ४६ ॥

राजा शूरतिष्य– राजा शूरतिष्य ने भी दश वर्ष ही राज्य किया ॥ ४७ ॥

उसने भिक्षुओं के लिये पाँच सौ (५००) आराम बनवा कर बहुत अधिक पुण्य कमाया ॥ ४८ ॥

दो द्रविड़ राजा– अन्त में इस शूरतिष्य को बन्दी बनाकर दो सेनगुप्तिक (अश्वसारथिपुत्र) द्रविड़ों ने यहाँ धर्मपूर्वक राज्य किया ॥ ४९ ॥

राजा अशैल– परन्तु राजा मुटशिव के ही (नौवे) पुत्र अशैल ने उन दोनों द्रविड़ सेनगुप्तिकों को बन्दी बनाकर पुनः अपना राज्य स्थापित किया । इस राजा ने भी दश ही वर्ष राज्य किया ।

राजा एळार– चोल देश से आये द्रविड़ राजा एळार ने इस राजा अशैल की हत्या कर अपना राज्य स्थापित किया ॥ ५० ॥

इस एळार राजा ने चौवालीस (४४) वर्ष तक धर्मपूर्वक राज्य किया । वह भय या मोह के वश में होकर अपने शासन के निर्णयों में कोई स्वेच्छाचारिता नहीं करता था ॥ ५१ ॥

उसने तुला (तराजू) के समान बनकर धर्मपूर्वक राज्य किया । उस का राज्य शासन इतना कठोर था कि देवता भी उससे भय खाते थे । भले ही कोई भी ऋतु क्यों न हो, उसके राज्य क्षेत्र में दिन में वर्षा न हो पाती थी, जिससे कि दिन में कार्य करते हुए मनुष्यों को कोई कष्ट न उठाना पड़े ॥ ५२ ॥

राजा अभय– काकवर्ण के पुत्र अभय (दुष्टग्रामणी नाम से विख्यात) ने अपने दश विशिष्ट योद्धाओं एवं कुण्डल हाथी के साथ ॥ ५३ ॥

वहाँ आकर एळार राजा को मारकर अपने वंश का राज्य पुनः स्थापित किया । चौबीस वर्ष तक इस राजा ने राज्य किया ॥

अठारहवाँ परिच्छेद समाप्त ॥

अठारहवाँ भाणवार समाप्त ॥

महावार भी समाप्त ॥

(इस परिच्छेद में आयी पाँच राजाओं की कथा का विस्तार महावंश के इक्कीसवें परिच्छेद में भी देखें-अनु॰)

उन्नीसवाँ परिच्छेद

(राजा अभय दुष्टग्रामणी)

महाप्रासादनिर्माण– इस राजा अभय ने ऐसा प्रासाद बनवाया जो बहुत ऊँचा नौ (९) मंजिल का था । जिसका निर्माण अत्यधिक महँगा पड़ा । इसके चारों तरफ चार विशाल द्वार थे । इस पर तीस करोड़ (३0,00,00,000) मुद्रा व्यय हुई ॥ १ ॥

इसमें अच्छे चूने का, मोटे पत्थरों का, अच्छी मिट्टी एवं ईटों का, समतल भूमि एवं लौह जाल का ॥ २ ॥

विल्लौरी पत्थरों का, वजरी मिट्टी का, आठ बड़ी-बड़ी शिलाओं का उपयोग हुआ था । राजा ने ये भूमिकर्म कराये ॥ ३ ॥

जम्बुद्वीप से आगत भिक्षु– राजा वट्टगामणी ने चैत्य से भिक्षुसङ्घ को आमन्त्रित किया । इस सङ्घ में–१. इन्द्रगुप्त, २. धर्मसेन, ३. महान् धर्मकथिक प्रियदर्शी, ४. बुद्धरक्षित स्थविर और ५. धर्मरक्षित (१) ६. सङ्घरक्षित, ७. पण्डित मत्तिण्ण, ८. उत्तिण्ण, ९. महादेव स्थविर, १०. धम्मरक्षित(२) ११. चित्तगुप्त, १२. उत्तर, १३. चन्द्रगुप्त स्थविर एवं १४. सूर्यगुप्त स्थविर, जो कि अत्यधिक प्रत्युत्पन्नमति थे ।

ये उपर्युक्त सभी महास्थविर जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) से यहाँ (लङ्काद्वीप में) आये थे ॥ ४-७ ॥

सिद्धार्थ, मङ्गल, सुमन, पद्म, सीवली, चन्द्रगुप्त, सूर्यगुप्त, इन्द्रगुप्त, सागर ॥ ८ ॥

मित्रसेन, जयसेन एवं अचल– ये बारह (१२) एवं सुप्रतिष्ठित ब्रह्मा एवं शुद्धचित्त नन्दिसेन ॥ ९ ॥

पुत्र, माता तथा पिता– इन तीन गृहस्थ जनों ने .. उत्तम महाविहार में महा स्तूप बनवाया ॥ १० ॥

महँगे बीस (२०) देकर दान (ज्ञात होता है कि यहाँ कुछ मूल पाठ विलुप्त हो गया, अतः प्रासङ्गिक अर्थ ठीक नहीं बैठ रहा है –अनु॰ ।)॥ ११ ॥

भिक्षुसङ्घ की जाने की तय्यारी (गमिकवत्त) सुनकर मार्ग में उपयोग में आने वाली औषध-सामग्री दी तथा सुविधापूर्वक यात्रा के सभी साधन दिये ॥ १२ ॥

उधर, भिक्षुणियों द्वारा यथासमय कहे गये (सुभाषित) वचनों को सुनकर राजा ने उनको भी यथेच्छ दान किया ॥ १३ ॥

स्तूपनिर्माण– राजा के चैत्य पर्वत पर महान् पाषाणमय स्तूप निर्माण कराया । इसी तरह उत्तम 'जलक' नामक आसनशाला बनवायी ॥ १४ ॥

साथ ही गिरिनामक निगण्ठ का भी खुले स्थान में 'अभयगिरि' नाम का विहार बनवाया[1] ॥ १५ ॥

तीन द्रविड़ राजा– पुलहत्थ (पुलस्त्य), बाहिय (बाह्य) एवं अल्प दाठिक–इन तीन द्रविड़ों ने चौदह (१४) वर्ष सात (७) मास राज्य किया ॥ १६ ॥

राजा अभय– श्रद्धातिष्य के पुत्र अभय ने इस दाठिक द्रविड़ को मारकर अपना राज्य स्थापित किया ॥ १७ ॥

इसने महाचैत्य के बीच में अभयगिरिविहार बनवाया । इस राजा ने बारह (१२) वर्ष, पाँच (५) मास राज्य किया ॥ १८ ॥

सात योद्धा– इस अभय राजा के सात योद्धाओं ने पाँच (५) आराम बनवाये । उन योद्धाओं के नाम ये हैं – १. उत्तिय, २. सालिय, ३. मूल, ४. तिष्य, ५. पर्वत, ६. देव एवं ७. उत्तर । ये राजा अभय के सात योद्धा थें[1] । ॥ १९ ॥

इनमें से उत्तिय योद्धा ने दक्षिण विहार बनवाया । सालिय योद्धा ने सालियाराम एवं मूल योद्धा ने मूलाशय ॥ २० ॥

पर्वत योद्धा ने पर्वताराम, तिष्य योद्धा ने तिष्याराम; देव और उत्तर योद्धाओं ने देवागार बनवाये ॥ २१ ॥

राजा महातिष्य– काकवर्ण राजा के पुत्र महातिष्य राजा ने अमात्यों से मन्त्रणा (कतिक) करके एक सुन्दर धान का खेत बनवाया । उसे शान्तचित्त, ध्यानी सुम्मस्थविर को (भिक्षुओं के उपयोग के लिये) दान कर दिया ॥ २२ ॥

दृढ़ निश्चय करके इस राजा ने तीन वर्ष से अधिक समय तक अनेक सहस्र भिक्षुओं को निरन्तर महादान (भोजनदान) किया ॥ २३ ॥

यों इस पुण्यवान् महाप्रज्ञ अभय दुष्टग्रामणी राजा ने देहपात के बाद तुषितलोक को प्रस्थान किया ॥ २४ ॥

राजा दुष्टग्रामणी का वर्णन समाप्त ॥
उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त ॥
उन्नीसवाँ भाणवार भी समाप्त ॥

बीसवाँ परिच्छेद

(राजाओं का वर्णन)

राजा तिष्य–राजा काकवर्ण का जो पुत्र हुआ वह 'तिष्य' नाम से विख्यात हुआ। उसने महास्तूप पर छत्रकर्म आदि शेष बचे हुए कार्य कराये ॥ १ ॥

उसने कुशल (कल्लकल्ल= अच्छे अच्छे) कारीगरों से दक्षिणागिरि विहार का निर्माण कराया। इसी तरह अन्य बहुत से विहारों का भी निर्माण इस राजा श्रद्धातिष्य ने कराया ॥ २ ॥

बुद्धवचन के चौरासी हजार (८४,000) धर्मस्कन्धों का अनुसरण करते हुए इस राजा ने प्रत्येक धर्मस्कन्ध की पृथक् पृथक् पूजा करायी ॥ ३ ॥

लौहप्रासाद– इस महान् यशस्वी राजा श्रद्धातिष्य ने एक सुन्दर सात मंजिल वाला (सप्त- भूमिक) प्रासाद बनवाया। इसकी विशेषता यह थी कि लोहे की ईंटों से इसका निर्माण हुआ। अतः इसका नाम 'लौहप्रासाद' ही प्रसिद्ध हो गया ॥ ४ ॥

उसने उस महास्तूप पर कञ्चुक (ऊपरी आवरण) का निर्माण कराया। तथा चैत्य को घेर कर हस्तिप्राकार (विशाल परकोटा) बनवाया ॥ ५ ॥

उसके चारों तरफ तालाब खुदवाये। इस राजा ने अठारह (१८) वर्ष राज्य किया ॥ ६ ॥

इसने दूसरे भी बहुत से पुण्य कार्य किये । बहुत अधिक दान किया । अतः यह सत्प्रज्ञ देहपात के बाद तुषितलोक में गया ॥ ७ ॥

राजा थूलथेन– श्रद्धातिष्य का पुत्र राजा थूलथेन हुआ, जिसने अलकन्दर नामक विहार बनवाया ॥ ८ ॥

इसने केवल एक मास दस दिन राज्य किया ॥ ९ ॥

राजा लञ्जतिष्य– श्रद्धातिष्य का ही पुत्र लञ्जतिष्य इस (थूलथेन) के बाद राजा हुआ । इसने नौ (९) वर्ष छह मास तक राज्य किया । इसने सुन्दर महास्तूप पर तीन लाख (३,००,०००) मुद्रा खर्च करें ॥ १० ॥

इसने 'गिरिकुम्भिल' नामक विहार बनवाया । तथा स्तूपाराम के सामने दीर्घस्तूप बनाया ॥ ११ ॥

राजा खल्वाटनाग– तथा स्तूपाराम पर शिलाकञ्चुक बनाया । इस लञ्जकतिष्य राजा के मरने के बाद उसका छोटा भाई राजा बना । इस नाम था खल्वाटनाग । इसने छह वर्ष ही राज्य किया ॥ १२ ॥

उसके सेनापति ने उसकी भी हत्या कर दी । परन्तु वह मन्दभाग्य सेनापति भी एक ही दिन राज्य कर पाया ॥ १३ ॥

राजा वट्टगामणी– तब उस खल्वाटनाग के छोटे भाई वट्टगामणी ने उस द्रविड़ सेनापति को मारकर पाँच मास तक राज्य किया ॥ १४ ॥

पाँच द्रविड़ राजा– पुलहत्थ द्रविड़ ने तीन वर्ष राज्य किया । तथा बाहिय द्रविड़ ने दो वर्ष राज्य किया । उसके सेनापति पनयमार ने उसको मार कर सात (७) वर्ष राज्य किया । उसको मारकर पलयमार द्रविड़ ने सात वर्ष राज्य किया। उसको मार कर दाठिय ने भी दो वर्ष ही राज्य किया । यों, ये पाँच द्रविड़ राजा हुए । इन्होंने सब मिलाकर सात (७) मास चौदह (१४) वर्ष तक यहाँ राज्य किया ॥ १५-१७ ॥

वट्टगामणी पुनः राजा बना– वह महायशस्वी वट्टगामणी चौदह वर्ष सात मास बाद पुनः लौटकर उस दाठिय द्रविड़ को मार कर स्वयं राज्य करने लगा ॥ १८ ॥

यों इस वट्टगामणी अभय ने बारह (१२) वर्ष और प्रारम्भ में पाँच (५) मास–इस तरह बारह वर्ष पाँच मास तक राज्य किया ॥ १९ ॥

त्रिपिटक को लिपिबद्ध कराना– तीनों पिटकों में आये बुद्धवचनों को तथा उनकी अट्ठकथाओं को प्राचीन महामति (बुद्धिमान्) भिक्षु मुखपाठ से ही पारम्पर्येण अब तक ला रहे थे ॥ २० ॥

अब कालक्रम से मनुष्यों में बुद्धि का ह्रास देखकर विवेकशील भिक्षु (राजा के परामर्श से) एकत्र हुए और उन्होंने निश्चय किया कि समग्र त्रिपिटक एवं अट्ठकथाओं को लिपिबद्ध कर लिया जाय । यों धर्म की स्थिरता के लिये उन सभी धर्मग्रन्थों को लिपिबद्ध कर लिया गया ॥ २१ ॥

वट्टगामणी राजा के देहपात के बाद, महाचूळि महातिष्य राजा बना । उसने धर्म एवं समता पूर्वक चौदह (१४) वर्ष राज्य किया ॥ २२ ॥

धर्म के प्रति श्रद्धालु उस राजाने अनेक पुण्यकार्य करते हुए अन्त में देवलोक को प्रस्थान किया ॥ २३ ॥

राजा चौरनाग– वट्टगामणी का पुत्र था चौरनाग । इसने बारह (१२) वर्ष तक विद्रोही बन कर राज्य किया ॥ २४ ॥

राजा तिष्य– महाचूळि का 'तिष्य' नामक द्वितीय पुत्र था । उसने द्वीप पर तीन (३) वर्ष तक राज्य किया ॥ २५ ॥

राजा शिव– शिव नामक राजा ने अनुला देवी के साथ संवास कर राज्य प्राप्त किया । इसने एक वर्ष दो मास राज्य के ऐश्वर्य का उपभोग किया ॥ २६ ॥

राजा बटुक– (इसी अनुलादेवी के कारण) दूसरे देश के वासी वटुक नामक द्रविड़ ने एक वर्ष दो मास तक यहाँ का राज्यसुख भोगा ॥ २७ ॥

राजा तिष्य– तिष्य नामक बढ़ई (दारुभत्तिक) ने भी (अनुला देवी के कारण ही) राजा बनकर एक वर्ष और एक मास तक यहाँ का राज्य भोगा ॥ २८ ॥

राजा निलिय– उसके बाद निलिय नामक द्रविड़ ब्राह्मण को अनुला देवी ने यहाँ का राजा बनाया । उसने इस ताम्रपर्णी पर छह मास तक राज्य किया ॥ २९ ॥

रानी अनुला– अन्त में अनुला देवी ने इस द्रविड़ को भी मार दिया और वह स्वयं इस द्वीप की रानी बन बैठी । परन्तु यह भी चार (४) मास तक ही राज्य-सुख भोग सकी ॥ ३० ॥

क्योंकि इधर वह राजा तिष्य, जो अनुला देवी के षड्यन्त्र के कारण राज्य छोड़ कर भागकर कहीं प्रव्रजित हो गया था, वही पुनः आया और उसने उस पापी मन वाली अनुला देवी को मारकर उसने अपना राज्य हस्तगत कर लिया[1] ॥ ३१ ॥

उस महाचूळि के पुत्र कुटिकर्ण तिष्य ने चैत्यपर्वतविहार में उपोसथागार बनवाया। एवं राज्य प्राप्त कर यहाँ धर्मपूर्वक राज्य किया ॥ ३२ ॥

उस चैत्यविहार के सामने एक सुन्दर पाषाणस्तूप बनवाया। और वहाँ बोधिवृक्ष की भी प्रतिष्ठा की ॥ ३३ ॥

तथा उसने भिक्षुणियों के लिये एक जन्ताघर (वाष्प-स्नानगृह) बनवाया। इसी तरह उसने पद्मसरोवरवनोद्यान के चारों तरफ प्राकार (दीवार) बनवाया ॥ ३४ ॥

नगर की सुरक्षा के लिये उसके चारों तरफ परिखा (खाई) खुदवायी। तथा सात हाथ से अधिक ऊँचा उस का परकोटा भी बनवाया ॥ ३५ ॥

महावापी के चारों तरफ भी अच्छा किला बनवा दिया। तथा रेवतोत्पल वापी एवं वर्णक नामक नहर भी बनवायी। इस राजा ने बाईस (२२) वर्ष तक राज्य किया ॥ ३६ ॥

राजाओं का वर्णन समाप्त ॥
बीसवाँ परिच्छेद समाप्त ॥
बीसवाँ भाणवार समाप्त ॥

इक्कीसवाँ परिच्छेद
(कुछ अन्य राजाओं का वर्णन)

राजा द्वारा स्तूपपूजा– कुटिकर्ण का पुत्र राजा अभय उस रम्य महास्तूप की अर्चना-वन्दना करने स्वयं वहाँ आया ॥ १ ॥

उस स्तूप के धातुगर्भ में कुछ क्षीणास्रव, इन्द्रियनिग्रही, विमलहृदय, शुद्धचित्त भिक्षु पूजा के निमित्त बुद्धवचनों का स्वाध्याय कर रहे थे ॥ २ ॥

राजा को, उस मनोरम धातुगर्भ में स्वाध्याय पाठ होता हुआ सुन कर, प्रदक्षिणा करते हुए भी चारों तरफ कोई भिक्षु नहीं दिखायी दिया, फिर भी उसे स्वाध्याय की ध्वनि सुनायी पड़ रही थी ॥ ३ ॥

तब राजा ने सोचा–"यह स्वाध्याय की ध्वनि तो सुनायी पड़ रही है, परन्तु कोई स्वाध्यायकर्ता नहीं दिखायी दे रहा है" ॥ ४ ॥

उसने फिर सोचा–"चारों द्वारों पर भी या बाहर भी कोई नहीं दिखायी देता, अतः सम्भव है धातुगर्भ में ही यह स्वाध्याय हो रहा है! ॥ ५ ॥

"मैं भी इस धातुगर्भ को देखना चाहता हूँ । इससे स्वाध्याय भी सुन लूँगा, साथ ही भिक्षुसङ्घ के दर्शन भी कर लूँगा" ॥ ६ ॥

राजा का यह सङ्कल्प जान कर देवराज इन्द्र ने धातुगर्भ में प्रकट होकर भिक्षुओं से निवेदन किया ॥ ७ ॥

"भन्ते! राजा धातुगर्भ के दर्शन की इच्छा से यहाँ बाहर खड़े हैं" ।

तब वे भिक्षुजन राजा की श्रद्धारक्षणहेतु राजा को धातुगर्भ में ले गये ॥ ८ ॥

राजा ने धातुगर्भ के दर्शन कर प्रसन्न होते हुए हाथ जोड़ कर उन पवित्र धातुओं का सत्कार किया, तथा सप्ताहपर्यन्त निरन्तर उनकी पूजा की ॥ ९ ॥

उस राजा ने सात बार उस धातुगर्भ को मधुपूर्ण भाण्ड समर्पित कर पूजा की। तथा इसी तरह महर्घ सर्वपूजा भी वहाँ सम्पन्न करायीं ॥ १० ॥

इसी तरह अन्य प्रकार से भी पूजाएँ कीं; जैसे—बार बार दीपों से पूजा, बार बार पुष्पों से पूजा या जलपूर्ण घटों से पूजा। ऐसी पूजाओं का क्रम सप्ताहपर्यन्त निरन्तर चलता ही रहा ॥ ११-१२ ॥

फिर राजा ने उस स्तूप पर, अनमोल प्रवाल का जाल चढ़ाया। उस पर नये वस्त्रों का वितान तनवाया ॥ १३ ॥

स्तूप के नीचे विशाल दीपदण्ड बनवाया, जिस पर निरन्तर दीपक जलने की व्यवस्था की जा सके। उसके लिये सप्ताहपर्यन्त जलने योग्य धृत का प्रबन्ध कर दिया ॥ १४ ॥

इसी तरह, तेल की कुप्पियाँ भरवाकर सप्ताहपर्यन्त तैलदीप-पूजा का प्रबन्ध किया ॥ १५ ॥

चटाई को गन्धोदक से आर्द्र कर उसे मस्तक पर लगाकर उस पर कमल के फूल बिछा कर यों सात बार पूजा की ॥ १६ ॥

इतना ही नहीं, राजा ने स्तूप के पश्चिम तरफ के तिष्य सरोवर से यन्त्र द्वारा जल लाकर उससे भी उस स्तूप की जल-पूजा की ॥ १७ ॥

राजा ने स्तूप के चारों तरफ योजन-योजन भर भूमि में फूलों के पौधे लगा दिये। उनसे उतरने वाले पुष्प-गुच्छों से भी उस महास्तूप की पूजा की ॥ १८ ॥

मुकुल (फूलों की कली=अर्ध विकसित पुष्प) एकत्र कर उसके गुच्छों से उस स्तूप की चौदह बार पूजा की ॥ १९ ॥

नाना पुष्पों को एकत्र कर उनका बड़ा गुच्छा (गुलदस्ता) बनाकर उससे स्तूप-पूजा की। नाना पुष्प एकत्र कर उनसे चटाई एवं स्तम्भ बना कर वह स्तूप को अर्पित करते हुए, उससे पूजा की ॥ २० ॥

उस श्रेष्ठ स्तूप पर चूना करवा कर उसे शुभ्र बनाकर उसका मङ्गलाभिषेक भी किया ॥ २१ ॥

बोधिपूजा– जिस बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर महाबलशाली शाक्यपुत्र गौतम ने अद्वितीय धर्म का साक्षात्कार किया था ॥ २२ ॥

उसी बोधि वृक्ष की शाखा, जो लङ्काद्वीप के मेघवन में आकर प्रतिष्ठित हुई है, राजा ने उसकी भी पूजा की ॥ २३ ॥

प्रवारणादान– वर्षावास किये हुए भिक्षुसङ्घ को राजा की तरफ से सुखदायक प्रवारणादान भी किया गया ॥ २४ ॥